भारतीय लोक-कला ग्रन्थावली—ग्रन्थ-सख्या ४

लोक-कला निबंधावली

भाग ३

राजस्थान

सम्पादक-मंडल

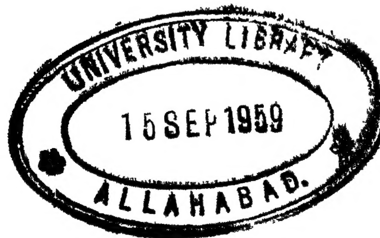
डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

बलवन्तसिंह महता

देवीलाल सामर

प्रबन्ध सम्पादक

पुरुषोत्तमलाल मेनारिया



प्रकाशन विभाग

भारतीय लोक—कला मंडल

रेज़िडेंसी भवन,
उदयपुर

जयपुर प्रिंटर्स भवन,
जयपुर

प्रकाशन विभाग
भारतीय लोक-कला मडल,
उदयपुर ।

प्रथम सस्करण
जनवरी, १९५७ ई०
मूल्य–तीन रुपया

मुद्रक—
सोहनलाल जैन,
जयपुर प्रिन्टर्स, जयपुर ।

प्रस्तावना

भारतीय गणतन्त्र-दिवस (१९५७ ई०) के अवसर पर दिल्ली मे आयोजित अखिल भारतीय लोककला-समारोह मे हमारे माननीय प्रधान मंत्री प० नेहरू ने कहा है कि भारतीय लोकनृत्यो के मूल रूप की रक्षा होनी चाहिये और इनको आधुनिक रूप नही दिया जाना चाहिये। प० नेहरू ने वास्तव मे एक महत्त्वपूर्ण विषय की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। स्वाधीनता के बाद हमारा ध्यान लोक-नृत्यो और लोकगीतो की ओर विशेष रूप मे गया है, यह एक शुभ लक्षण है। हमारे देश के प्रमुख स्थानो मे ऐसे आयोजन होते रहते है जिनमें हमारे कलाकार लोकगीत अथवा लोकनृत्य बडे उत्साह से प्रस्तुत करते है। बहुधा हमारे कलाकार साधना के अभाव मे लोक-नृत्यो और लोकगीतो को परिवर्तित अथवा कहना चाहिये भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत करते है और ऐसी अवस्था मे वास्तविकता के दर्शन दुर्लभ होते है। यह इसलिये भी होता है कि अधिकारी लोक-कलाकारो को कार्यक्रम प्रस्तुत करने का अवसर नही मिलता।

यह भी सत्य है कि लोक-कलाओ के आधुनिक युग के अनुकूल विकास को रोका नही जा सकता। हमारे कलाकार नवीन भावनाओ से प्रभावित हो रहे है और नवीन सुधारो को तेजी से अपनाते जा रहे है। हमारे देखते ही देखते कई लोकनृत्य और लोकगीत लुप्त होते जा रहे है तथा उनका स्थान नवीन मनोरंजन ले रहे है। अब तक हमने इस ओर ध्यान नही दिया किन्तु अब समय परिवर्तित हो गया है और हमे तुरन्त ही सचेष्ट हो जाना चाहिये।

लोक-कलाओ का लोक-जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। शास्त्रीय कला वर्ग विशेष की सम्पत्ति होती है और लोक-कला समस्त लोक-जीवन की। हमारी पराधीनता के समय शास्त्रीय कलाओ की ओर ध्यान दिया गया किन्तु लोक कलाएँ अधिकाश मे उपेक्षित ही रही। तब हमारे उच्च वर्ग द्वारा लोक-कलाएँ बहुधा उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती थी किन्तु अब समय बदल गया है और लोक-जीवन के नव-निर्माण के लिये लोक-कलाओ को महत्त्व देना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

राजस्थान लोक-कलाओ की दृष्टि से भारतवर्ष का एक सम्पन्न प्रदेश है। यहा पूर्व ऐतिहासिक काल से ही विभिन्न प्रकार के मानव-समुदायो का आवागमन और निवास रहा है, जिसके फलस्वरूप यहा की लोक-कलाओ मे विभिन्नता पर्याप्त मात्रा मे मिल जाती है।

आज समय के अनुसार अपनी जनता की रुचि को परिष्कृत करने की ओर लोक-कलाओ के विकास की परम आवश्यकता है। राजस्थान जैसे सुविस्तृत क्षेत्र में इस कार्य के लिये विशेष साधना और राजकीय सहयोग चाहिये। राजस्थान मे लोक-कला सम्बन्धी संग्रह-कार्य अभी अल्पाश मे भी नही हो सका है। फिर आज यह भी आवश्यक हो गया है कि हम सम्पूर्ण राष्ट्र मे होने वाले महान् नव निर्माण सम्बन्धी कार्यों मे सक्रिय सहयोग के लिये अपनी जनता मे लोक-कलाओ के माध्यम से नवीन चेतना जाग्रत करे। इसके लिये हमे लोक-कलाओ को युग के अनुकूल विकसित करना होगा। अब इस महत्त्वपूर्ण कार्य में अविलम्ब ही सलग्न होना आवश्यक हो गया है। हमारे लिये गौरव का विषय है कि भारतीय लोक-कला मडल, उदयपुर इसी क्षेत्र मे कार्य कर रहा है। यह सस्था हमारे सम्पूर्ण सहयोग की अधिकारिणी है।

भारतीय लोक-कला-ग्रन्थावली के अन्तर्गत लोक-कला-निबन्धावली का यह तीसरा भाग पाठको की सेवा मे प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रसन्नता है कि भारतीय लोक-कला ग्रन्थावली का सम्बन्धित क्षेत्र मे अच्छा स्वागत किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रकाशित पहले दो ग्रन्थ लोक-कला-निबन्धावली भाग १ और २ अब प्राप्य नही है तथा इनके दूसरे सस्करण की व्यस्था हो रही है।

प्रस्तुत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत श्री देवीलाल सामर और श्री गीडाराम वर्मा द्वारा प्रस्तुत "राजस्थान का लोक-सगीत" नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रेस में छप रहा है और राजस्थान के लोक-नृत्य, राजस्थान के लोक-नाटक—ख्याल तथा राजस्थान के त्यौहार विषयक ग्रन्थ भी शीघ्र ही प्रेस मे दिये जावेगे।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य मे समय-समय पर केन्द्रीय सगीत नाटक एकेडेमी और राजस्थान तथा मध्यप्रदेश की सरकारो का विशेष सहयोग मिलता रहता है, जिसके लिये सम्बन्धित व्यक्ति हमारे धन्यवाद के पात्र है। अपने विषय के अधिकारी विद्वानो और कलाकारो का सहयोग भी हमें प्राप्त है जिनके प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करते है।

दूगड़ बिल्डिग,
मि. इ. रोड, जयपुर,
बसन्त पचमी, १९५७ ई.

पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
सम्पादक
भारतीय लोक-कला-ग्रन्थावली

विगत—

[१]

राजस्थान के लोकानुरंजन

लेखक—श्री देवीलाल सामर

[राजस्थान एक सुविस्तृत भारतीय भू-भाग है। यहा का प्राकृतिक वातावरण विविधता लिये हुए है। साथ ही राजस्थान विविध मानवसमूहो का निवास-क्षेत्र रहा है। इसलिये राजस्थान भारतीय लोक-कलाओ का एक विशेष भण्डार बन गया है।

हमने हाल ही मे अपने भण्डार के इन रत्नो को परखना प्रारम्भ किया है। पिछली कुछ सदियो मे हमारी दृष्टि बाहरी रत्नो पर ही विशेष रही है और इस कारण हम अपने जीवन का उल्लास प्राय खो चुके है। घोर दुख और गरीबी मे भी उल्लास कायम रखकर उन्नति-क्षेत्र की ओर बढते रहने के लिये हमारे समाज मे लोकानुरजन की नितान्त आवश्यकता है।

काल के प्रबल प्रवाह मे पड कर कोई भी अपरिवर्तनशील नही रहता। हमारी लोक सस्कृति और लोक-कलाओ मे भी परिवर्तन अवश्यभावी है किन्तु यह परिवर्तन हमारी स्वस्थ परम्परा और शक्ति को बराबर बनाये रखने वाला होना चाहिये। परिवर्तन के फेर मे पड कर यदि हम अपनी शक्ति खो बैठे तो फिर हमारा कोई सहारा नही रहैगा।

लोकानुरजन के आधार पर हमे अपनी जनता मे एक नवीन जागृति की नीव डालनी है जिससे हम निरन्तर शक्तिशाली बने रह कर उन्नति करते रहे। श्री देवीलाल सामर और भारतीय लोक-कला मंडल के सहयोगियो ने हमारे लोकानुरजन का सक्षिप्त किन्तु खोजपूर्ण विवरण प्रस्तुत कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। राजस्थान के लोकानुरजन को पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करते हुए हमे बड़ी प्रसन्नता है। —प्रबन्ध सम्पादक]

सारा भारतवर्ष लोक-कलाओं का भण्डार है। प्रत्येक राज्य मे लोक-कला का कोई न कोई रूप अवश्य विद्यमान है। राजस्थान अन्य राज्यों की अपेक्षा अपनी लोक-कलाओं मे विचित्रता और विशेषता रखता है। राजस्थान को अभी तक लोग वीरता, रग और कला का प्रदेश मानते है। रगों का जितना प्रचलन राजस्थान मे है, अन्यत्र कही नहीं है। वीरता की अमर गाथाएँ तो आज घर-घर मे प्रचलित हैं तथा उसी से साहित्य और कला को बल मिला है। उसी के फलस्वरूप वीरता, शौर्य, प्रेम और भक्ति के अद्वितीय गीत हमारे कवियों ने गाये हैं। शौर्य और वीरता के साथ राजाओं ने कला को भी समुचित आश्रय प्रदान किया है, यद्यपि वह बहुधा उनके व्यक्तिगत मनोरजन की सामग्री बनी रही है।

अनायास ही हमारे मन में यह प्रश्न उठ खडा होता है कि राजस्थान में रग, साहित्य और कला को किसने जन्म दिया है? जहां प्रकृति की अद्वितीय देन होती है वहां के निवासी सपन्न होने के नाते आलसी भी होजाते हैं और अपने विश्राम के समय कलात्मक भावनाओं को साकार रूप देते है। प्राकृतिक सौंदर्य मानवीय सौंदर्य मे भी परिस्फुटित हो जाता है। इस प्रकार अतिशय सूखे स्थानों मे भी प्रकृति की कमी को मनुष्य स्वनिर्मित सौंदर्य से पूरा कर देता है। राजस्थान के जिन क्षेत्रों मे सूखा है वहां अधिक से अधिक रगों का मेला देखा जा सकता है। बीकानेर, जोधपुर तथा जैसलमेर के स्त्री-पुरुषों की वेष-भूषा के रंग देखते ही बनते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य की कमी को मनुष्य स्वनिर्मित कला से पूरा करता है। यही कारण है कि राजस्थान ने जहां वीरता, शौर्य और पुरुषार्थ को जन्म दिया वहां साहित्य और कला के विविध रूप भी विकसित हुए। राज्याश्रित कलाएं तो सिर्फ राजमहलों तक ही सीमित रहीं परन्तु लोक-कलाओं का जाल सारे समाज मे बिछ गया।

शहरों मे राज-घरानों का विशेष प्रभाव होने से शास्त्रीय कलाओं को विशेष स्थान मिला और कला के विकास का काम कुछ कला-विशेषज्ञों पर छोड़ कर नागरिकों ने अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली। धीरे-धीरे राज्याश्रित शास्त्रीय कलाओं के कलात्मक पेचीदगियों मे उलझ जाने से उनका भार कुछ पेशेवर लोगों पर ही आ पड़ा। परिणाम यह हुआ कि कला-

कारों की जाति ही अलग हो गई। धीरे-धीरे समय के परिवर्तन के साथ भौतिक आनन्द और विलासिता की भावना बढ़ी और जनता ने उसे हेय दृष्टि से देखा। परिणाम यह हुआ कि कला साधारण घरों से निकल कर जीवन से अलग हो गई। परन्तु गावों मे तब तक यह भावना नही फैली थी। कला काफी समय तक सामूहिक आनन्द की माध्यम बनी रही परन्तु शहरी प्रभाव से हमारे गाव भी नही बचे रहे और आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व यह कुत्सित भावना गांवों में भी प्रविष्ठ हुई। नतीजा यह हुआ कि शहरों की तरह ही कला सामूहिक आनन्द की वस्तु न रह कर जातिगत कलाकारों की धरोहर बन गई। देहातों मे रहनेवाले उच्चवर्गीय समाज ने उसे हेय दृष्टि से देखा और विशेष समारोहों पर मनोरंजन करने वालों के वर्ग अलग-अलग होगये। मनोरंजित व्यक्ति अपने को बडा मानता और मनोरंजन प्रदाता उससे छोटा समझा गया। इतना तक हो गया कि उच्च जातियों के जिन लोगों ने कला को व्यवहारिक रूप दिया वे जाति से अलग कर दिये गये और उन्हें भाड-भवाईयों का रूप मिला। इनकी गिनती शूद्रों मे हुई। इसलिये गावों के बनियों, जाटों, गूजरों, क्षत्रियों, डांगियो ब्राह्मणों और धाकड़ों मे नृत्य की परम्परा बिलकुल नही है और लोक नृत्यों की सारी परम्परा इन्ही जातियों से निकले हुए भांड-भवाईयों मे विद्यमान है, जिन्हें शूद्रों की गिनती मे समझा गया है।

शूद्रों तथा आदिवासियों में अभी तक यह भेद-भाव की भावना विद्यमान नहीं है। जीवन को अधिक स्वाभाविक और प्रकृति के निकट समझने वालों मे देहाती शूद्र कला को अभी तक अपनी जीवन-शक्ति बनाऐ हुए हैं। यही कारण है कि लोक-नृत्यों की अनेक सुन्दर परम्पराएं भील, मीणां, बालदिया, नट, सांसी, कन्जर, बणजारा, ढोली, सरगर, भोपा, कामड़, राव, मिरासी तथा नायक आदि जातियों ने जीवित रखी हैं। राजस्थानी लोक नृत्यों के अधिकांश प्रकार इन्ही जातियों के पास हैं। अन्तर इतना ही है कि निम्न समझे जाने वाले मानव कला को अपना पेशा नही बना कर उसे जीवन का एक अंग बनाए हुए हैं और उसको कमाने के लिए नहीं, केवल आनद के लिये प्रयुक्त करते है।

इस तरह के लोक-नृत्यों के दो प्रकार हैं, एक व्यवसायिक लोक-नृत्य और दूसरा सामूहिक लोक नृत्य। पहले प्रकार पर निश्चय ही

शहर का प्रभाव है और इस पर पेशेवर लोक-कलाकारों का आधिपत्य है परन्तु दूसरे प्रकार पर हमे विशेष गर्व है। उस पर ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, धनिक गरीब जाति-पाँति आदि का कोई प्रभाव नही है परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि यह परम्पराए हमारे देश मे नष्ट होती जा रही हैं। इसका मुख्य कारण इन जातियों की आर्थिक विषमता तथा आज की दूषित सुधार-प्रणाली है। इन जातियों की कलाओं का कभी वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया। उनकी कला और सस्कृति को बचाने के प्रयत्न नही हुए। समाज-सुधार तथा अक्षर-ज्ञान की ओर जो प्रयत्न हुए हैं वे शिक्षा विज्ञान के विपरीत हैं। कोई ऐसी टेकनीक नही सोची गई जिसमे इनकी शिक्षा-दीक्षा के साथ इनकी कला का भी विकास होता। परिणाम यह हो रहा है कि हमारी स्वस्थ परम्पराए भी नष्ट हो रही है और सर्वत्र कला के प्रति उदासीनता के कारण ये देहाती कलाकार स्वय भी अपने को हीन समझने लगे हैं।

अपने देश के स्वस्थ और सुन्दर विकास के लिये ये कलाएँ रामबाण औषध हैं परन्तु इस ओर कही कोई प्रयत्न नही हो रहा है। जो है वही खो रहा है और उसके प्रति अवहेलना बढ़ रही है।

शहरी जनता मे जो थोड़ा सा भी नया प्रकाश फैला है वह साहस-वर्धक अवश्य है परन्तु वह प्रकाश केवल फैशन के रूप में है। लोक-जीवन की पोशाकों, वेशभूषाओं और कला के प्रति, जो थोड़ी जागृति दीखती है वह शौक के कारण है। समझ कर कोई भी बात नही की जाती। चूँकि जीवन मे कुछ अनोखापन लाने से लोगों का आकर्षण बढ़ता है इसलिये आज कालेज की लिपस्टिक और पाउडर लगाने वाली लड़कियाँ भी देहात की भारी भरकम वेष-भूषा धारण करने मे आनद का अनुभव करती हैं।

देहातों की इन स्वस्थ और सुन्दर कलाओं को हमे कभी भी नष्ट नही होने देनी चाहिये, वरन् जिन जातियों ने इन्हें त्याग दिया है उनमे पुनः इन्हें प्रतिष्ठित करना चाहिये। सामूहिक जीवन की इतनी सुन्दर और सस्ती परपरा हमारे गावों से विलीन हो जावेगी तो हम कही के नही रहेंगे। हम यह भी नही चाहते कि शहरी फिल्म की गंदगी देहातों मे आ जाय, सिवाय शैक्षणिक फिल्मों के उनका देहातों में प्रवेश ही वर्जित होना चाहिये। इनका एक तरीका तो यह है कि इन कलाओं को शहरों

और देहातों के सभ्य समाज के लोग अपना कर प्रतिष्ठित करें, उन्हें यह भान कराया जाय कि उनके पास जो कला है वह किसी के पास नही है और वह मूल्यवान है।

भारतीय लोक-कला मडल के खोज विभाग को जब मध्यभारत शासन द्वारा वहाँ के आदिवासियों के सांस्कृतिक जीवन की जाँच-पड़ताल का काम सौंपा गया तभी हमने यह सकल्प किया कि राजस्थान के लोक-जीवन को अनुप्राणित करने वाली सांस्कृतिक धाराओं का भी गहरा अध्ययन किया जाय। यह कठिन कार्य हमने हाथ मे लिया तभी से हम इसकी गभीरता को समझते थे। इस कार्य को हमने अत्यंत वैज्ञानिक और नियोजित ढग से शुरू किया। थोड़ा-थोड़ा करके हमने इस कार्य को लगभग दो वर्ष मे समाप्त किया और राजस्थान का कोई भी ऐसा भाग नहीं रहा जहाँ हमारे संशोधन-विभाग के कार्यकर्ता नही पहुँचे हों। हमारे दल मे एक केमरा मेन, एक ध्वनिसकलण यत्र सचालक तथा दो विद्वान् और सगीतज्ञ थे जिन्होंने राजस्थान के लोक जीवन मे व्याप्त सांस्कृतिक धाराओं का अध्ययन किया है। अनेक गीतो की ध्वनियों का रेकार्डिग किया गया और लोक-नृत्यों और लोक समारोहों की झाँकिया चलचित्रों मे अकित की गई। विद्वान् सशोधकों ने लोक-जीवन का अध्ययन करते हुए उनके सांस्कृतिक तत्त्वो को खोज निकालने की भी पूरी कोशिश की।

प्रस्तुत पुस्तक मे उस सामग्री को केवल आंशिक रूप मे ही प्रकाशित किया गया है। प्रत्येक लोकानुरजन पर विस्तृत सामग्री हमारे खोज-विभाग मे सकलित है जो भावी प्रकाशन मे पूर्ण विश्लेपण के साथ प्रस्तुत की जायगी।

प्रस्तुत सामग्री में लोकानुरंजन के रूप मे गीतों को सम्मिलित नही करके केवल उन्हीं खेल-तमाशों और नृत्यों को सम्मिलित किया गया है, जिनमे शारीरिक क्रिया कलापों का कलात्मक और व्यवहारिक रूप ही विशेष महत्त्व का है। लोक-गीतो का विषय स्वय मे एक स्वतत्र विषय है और उसका गेय पक्ष गहन वैज्ञानिक विश्लेषण के योग्य है। इस सबध मे हमारे पास सपूर्ण सामग्री सकलित है जो हमारे भावी प्रकाशन के कार्य-क्रम मे सर्वोपरि स्थान रखती है।

प्रस्तुत सामग्री से यह अवश्य सिद्ध होता है कि हमारे जीवन मे मनोरजन का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजस्थान के लोक-जीवन मे

उसने विशेष रूप धारण किया है। हमारी यह धरोहर आज नष्टप्राय: सी होने लगी है। हमारे सामने यह बहुत बड़ा प्रश्न है कि क्या आज के युग में इन्हें बचाये रखना चाहिये या मनोरंजन के नवीन रूपों के सामने इनका ह्रास होने देना चाहिये। यदि राष्ट्रीय हित के लिये इन्हें बचाना है तो इस ओर गंभीर और क्रियात्मक कदम की आवश्यकता है।

भारतीय लोक-कला मंडल का मुख्य ध्येय इन लोक-कलाओं को युग की आवश्यकताओं के अनुसार सशोधित करके उन्हें पुनः समाज में प्रतिष्ठापित और समादृत करना है। हमारा यह भी विश्वास है कि इस लोकानुरजन पर ही मनुष्य का सच्चा सुख निर्भर है। इसमे जीवन को स्वस्थ, सुन्दर और सुख-पूर्ण बनाने की क्षमता है और भावनाओं को परिमार्जित करके उन्हें स्वस्थ दिशा मे मोडने का गुण है। लोकानुरंजन मानव-जीवन की सबसे बड़ी धरोहर है, जिसको अनुप्राणित करना और स्वस्थ परमपराएँ कायम रखना ही हमारा धर्म है।

विषय-प्रवेश

(क) लोकानुरंजन और उनकी उपयोगिता

किसी न किसी प्रकार के मनोरंजन की आवश्यकता हर मानव-प्राणी को अपने जीवन मे होती है। वह कोई न कोई मनोरंजन ढूँढ भी निकालता है। जिसमे योग्यता होती है, सच्चे अर्थ मे जीवन का आनंद भी वही लूटता है। उत्कृष्ट मनोरंजन समाज का उत्थान करते हैं। इनसे मानव परस्पर एक दूसरे को अधिक समझ भी सकते है और ये व्यक्तियों को अधिक निकट लाते हैं।

आज का युग भौतिकवादी है। इसके प्रभाव ने स्वान्तःसुखाय मनोरंजन के महत्त्व को बहुत कम कर दिया है। आज हमारी प्रवृत्ति तथ्यों के पीछे ही रह गई है। मनोरजनदायिनी कलाओं का हमारे जीवन से स्थान उठता जा रहा है। पर यदि देखा जाय तो संगीत, नृत्य, खेल और त्यौहार जीवन के सभी रूपों मे आनद को अभिव्यक्त करने के लिये निश्चित् रूप से अच्छे से अच्छे स्रोत हैं। शहरी स्त्री-पुरुष दुर्भाग्यवश इन कलाओं मे अपनी रुचि के अभाव के कारण जीवन का आनद खोते

जारहे है, किन्तु गावों मे इस प्रकार की परपराये आज भी विद्यमान है। यह बात अवश्य है कि वे खास जातियों मे ही मिलती हैं। पर वे उनके दैनिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बनी हुई हैं। परिणाम-स्वरूप आज का ग्रामीण अपनी आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद भी शहरी लोगों से, जिनको अनेक प्रकार की सुख-सुविधायें, आराम के साधन तथा अन्य सहूलियतें प्राप्त है, अधिक सुखी है।

(ख) सामुदायिक और पेशेवर मनोरंजन

समाज में दो प्रकार के मनोरंजन प्रचलित है। एक हैं स्वान्तः सुखाय अथवा सामूहिक या सामुदायिक मनोरंजन, दूसरे हैं पेशेवर। सामुदायिक मनोरंजनों मे लोग आत्माभिव्यक्ति या केवल आनंद के लिये ही शरीक होते हैं। उनके पीछे कोई आर्थिक उद्देश्य नहीं रहता। इनका मुख्य उद्देश्य लोगों के समूह को सामाजिक सम्पर्क के लिये एकत्रित करना और उसके द्वारा मिलजुल कर आनंद अभिव्यक्त करना है। इस प्रकार के अवसर लोगों को चिता भुलाने का अवसर देते है और इनसे जीवन अधिक स्वस्थ बनता है। दूसरे प्रकार के मनोरंजन दूसरों को खुश करने के लिये किये जाते हैं। ये स्वान्त.सुखाय नहीं, कमाई की दृष्टि से किये जाते है। समाज मे ये दोनों प्रकार की ही किस्मे हमेशां से चलती रही हैं। पहली का सामाजिक और सांस्कृतिक शिक्षण में विशेष स्थान रहा है। किन्तु अपने दृष्टिकोण से ज्यों-ज्यों मनुष्य भौतिकवादी बनता गया और उसने चिताग्रस्त और खराब जिन्दगी बितानी शुरु की, उसको अपना मनोरंजन दाम खर्च कर दूसरों के द्वारा करवाने की आवश्यकता महसूस हुई। इस प्रवृत्ति ने पेशेवर मनोरंजकों की श्रेणी को जन्म दिया और इन लोगों का धधा जटिल कलाओं का दूसरे लोगों के मनोरजनार्थ इस प्रकार से निर्माण करना था जिसके जरिये उनको अधिकतम द्रव्य की प्राप्ति हो सके। कुछ हद तक यह सभी पेशेवर और शास्त्रीय कलाओं का बीज रहा है। वर्तमान चलचित्र, थियेटर सम्बधी तथा दूसरे पेशेवर प्रकार के मनोरजनों के उद्गम इसी विचार के ऋणी रहे हैं। दूसरा इनके पतन का कारण गलत धारणा है जो रूढ़िवादी लोगों ने कला के विरुद्ध कुछ साध्यों के लिये बना दी है। इस प्रकार औसत आदमी सामुदायिक मनोरजनों मे कम रुचि रखता गया और अपने दिल बहलाव के लिये दूसरों पर ही निर्भर

होता गया। यह कमाई के उद्देश्य वाली प्रवृत्ति शहरों मे लोकप्रिय होती जा रही है और गावों मे भी बहुत दृढ़ हो रही है। अधिकांश जातियों ने गायन और नृत्य करना बन्द कर दिया है। आज इसे वे निम्न लोगों का धंधा समझते हैं। पर सौभाग्य से पिछड़ी हुई और आदिम जातियों मे यह प्रवृत्ति अभी विकसित नही हुई है। फलस्वरूप इन जातियों मे सब से अच्छे मनोरंजन विद्यमान है।

(ग) राजस्थानी लोक-कला की मुख्य विशेषताएँ

राजस्थान मे शताब्दियों पुरानी शास्त्रीय कलाये है। यहाँ के राजाओं ने सर्व श्रेष्ठ संगीतज्ञों और नर्तकों को संरक्षणता दी है। इन कलाओं के विकास के लिये दरबार का वातावरण बहुत लाभदायक रहा है और इन्ही शासकों के शासनकाल मे सगीत और नृत्य मे सबसे कठिन प्रयोग किये गये है। राजघरानों से सम्बंधित व्यक्ति इन कलाओं के जानकार और पारखी थे किन्तु जनसमूह इन कलाओं के विकास मे एकदम अनभिज्ञ छोड़ दिया गया। यह तरक्की नही कर पाया और नतीजा यह हुआ कि दरबारी कला और जन-कला मे एक चौड़ी खाई बन गई। जनसाधारण की कला राजघराने से सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा सदा घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी। विशेष रूप से मध्य युग मे यह प्रवृत्ति गांवों मे भी फैल गई। ज्यों-ज्यों जाति-प्रथा में कड़ाई आती गई, यह लोक-कला धीरे-धीरे दलित वर्ग की धरोहर बनती गई और उच्च वर्गों जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अधिकारों से चली गई। इस प्रकार ये कलाये जो एक समय सभी लोगों की आत्म अभिव्यक्ति का साधन थीं, समय पाकर पिछड़ी हुई जातियों के पास चली गई। ये लोग सवर्ण हिन्दुओं का विशेष अवसरों पर मनोरजन करते रहे। आज चूँकि दलित वर्ग के पास ही यह सचित पूँजी है, यह बड़ी हेय नजर से देखी जाती है।

(घ) राजस्थानी लोकानुरंजनों का वर्गीकरण

नाना प्रकार के मनोरजनों के अनुसार राजस्थान को हम तीन भागों मे बॉट सकते है।

(१) उदयपुर, डूँगरपुर, कोटा, झालावाड़ और सिरोही का पहाड़ी प्रदेश।

(२) जोधपुर, बीकानेर और जैसलपेर का रेगिस्तानी क्षेत्र ।

(३) पूर्वी राजस्थान, शेखावाटी व जयपुर को सम्मिलित करते हुए ।

१ भील, मीणों, बंजारों, और सिरियों आदि आदिवासियों के निवास के कारण पहाड़ी प्रदेश सामुदायिक मनोरंजनों मे बड़े सम्पन्न है। उनके इस प्रफुल्लित जीवन का कारण पहाड़ी एव प्राकृतिक वातावरण है। नृत्य और संगीत के रूप मे अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिये प्राकृतिक छटा उन्हे बाध्य करती है।

२. मरुस्थलीय भाग मे आबादी बहुत कम है। वहाँ प्राकृतिक साधनों का अभाव है। यहाँ औसत आदमी को आजीविका के उपार्जन मे बड़ी शक्ति लगानी पड़ती है। इनका जीवन बडा परिश्रमपूर्ण होता है। वे मनोरजन द्वारा जीवन का आनंद लूटने के लिये कम ही समय पाते है। मनोविनोद के लिये उनको समय भी कम ही मिलता है इसलिये सामुदायिक मनोरंजनों का उनके जीवन मे बहुत कम स्थान है। अधिकांश मे उनके मनोरजन पेशेवर नृत्यकारों द्वारा करवाये जाते है और ये है सरगड़े, नट, मिरासी और भाट। इस प्रदेश के लोगों को रगों से बड़ा प्यार होता है। इनमे वे बड़ी रुचि लेते हैं और वे जो रंगों का अभाव प्रकृति में पाते हैं उसकी कमी-पूर्ति अपनी रंगीनी वेशभूषा के द्वारा करते हैं।

३. राजस्थान का पूर्वी हिस्सा, खास तौर से शेखावाटी, पेशेवर लोक-नृत्यों मे बड़ा समृद्ध है। प्रकृति देवी भी यहां इतनी क्रूर नहीं रही है। कुछ यहां प्राकृतिक साधन भी उपलब्ध हो जाते हैं। आजीविका निर्वाह भी यहां बड़ा कठिन नही है। इसके मुकाबले मे बाडमेर और जैसलमेर के पश्चिमी हिस्से तो बड़े सूखे रह जाते हैं। इस भाग मे धनिकों की बस्तियां भी हैं और वे मनोरजनों पर पैसा भी खर्च करते हैं। परिणाम-स्वरूप कठपुतली वाले, नट, कामड़, कच्छी घोड़ी वाले, भोपे और जोगी अपने पेशों द्वारा आमदनी प्राप्त कर लेते हैं। भाड भी अपने अभिनय द्वारा जनसाधारण का मनोरजन करते हैं।

राजस्थान के उत्तर प्रदेश से लगते हुए इलाकों पर उस प्रदेश का प्रभाव है। इधर रासलीला, रामलीला, रसिया, नौटकी का प्रचलन है। इन भागों पर ब्रज भूमि की संस्कृति का प्रभाव है।

पहाडी भागों के लोकानुरजन

इन इलाकों में सामुदायिक रूप के गीत और नृत्य प्रचलित है। इनमें भीलों और मीणों का समाज सबसे अधिक आकर्षक है। वे स्वतंत्रता-प्रेमी हैं और प्रायः स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन प्रकृति के अधिक समीप है। और भी दूसरी जातियां यहां निवास करती हैं किन्तु उनका जीवन इतना प्राकृतिक नही है। संगीत और नृत्य उनके जीवन का एक मुख्य अग है। प्रायः सभी उत्सवों के अवसरों पर वे मिल जुल कर नृत्य करते हैं। इन कलाओं के प्रति इनमें किसी प्रकार की हीनत्त्व की भावना भी नहीं आई है। वे इन्हें बड़ा महत्त्व देते हैं। नर और नारी प्रायः सभी नृत्यों मे भाग लेते हैं। डूंगरपुर और बांसवाड़ा के भीलों मे निम्नलिखित मनोरन्जन के प्रकार लोकप्रिय हैं :—

(क) मीणों और भीलों के नृत्य

१. घूमर—यह नृत्य-विशेष सभी समारोहों, विवाह के अवसरों और त्यौहारों पर किया जाता है। स्त्री और पुरुप एक चक्कर बना लेते हैं और गाते हुए नृत्य करते हैं। गीत प्रायः घटनाओं पर रचे जाते हैं। नृत्य के साथ वाद्य-सगीत का कोई मेल नही होता। लय बड़ी आसान होती है किन्तु अग-सचालन बडे सुन्दर और प्रभावोत्पादक हो जाते हैं।

२. गेर—होली मे यह नृत्य होता है। इसमे केवल पुरुप ही भाग लेते हैं। एक बड़ा ढोल थालियों के साथ बजाया जाता है। भील गोलाकार डॅडियों के साथ नाचते हैं। यह अपेक्षाकृत बड़ा उत्तेजक नृत्य है और साथ साथ सुन्दर भी।

३. उत्सव की घूमर—जब भील और उनकी स्त्रियां प्रसन्न मुद्रा मे होते हैं तब यह नृत्य होली के अवसर पर किया जाता है। यह गैर और घूमर का मिश्रण है। भीलों और मीणों का यह बहुत ही

मंत्र मुग्ध करने वाला नृत्य है। अपनी सबसे अधिक आकर्षक और चमकीली पोशाकों मे स्त्री और पुरुष होते हैं। वस्तुतः सारा नृत्य नेत्रों को बड़ा सुखकर होता है।

४. मीणों और भीलों का विवाह-नृत्य—दुलहिन के घर से दूल्हे की विदाई के अवसर पर यह नृत्य किया जाता है। भील तलवारों, थाली व मादळ से सारे रास्ते भर नाचते हैं। दुलहिन की चाचियां अपने हाथों मे टोकरियां और झाडू लेकर नाचती हैं।

५. नेजा—यह बड़ा रुचिप्रद खेल-नृत्य है और होली के तीसरे दिन सम्पन्न किया जाता है। यह साधारणतया खेरवाड़ा और डूंगरपुर के मीणों में प्रचलित है। भीतरी पहाड़ियों मे रहनेवाली आदिम जातियों मे इस प्रकार का नृत्य नहीं मिलता। एक बड़ा खम्भ जमीन मे रोप दिया जाता है। उसके सिरे पर नारियल बांध दिया जाता है। इस खम्भ को स्त्रियां हाथों मे छोटी छड़ियां और बलदार कोरड़े लेकर चारों ओर से घेर लेती हैं। पुरुष जो वहां से थोड़ी दूर पर खड़े हुए रहते है उस खम्भ पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं और नारियल ले भागते हैं। स्त्रियां उनको छड़ियों और कोरड़ों से पीट कर भगाने की चेष्टा करती हैं। यह एक दिलचस्प खेल होता है। हजारों आदमी इसका अनुपम दृश्य देखने के लिये इकट्ठे हो जाते हैं।

६. उदयपुर के पड़ोस मे रहने वाले भीलों का गौरी नृत्य – श्रावण और भादों के महीने मे यह अपने इष्ट-देव की पूजार्थ सम्पन्न होता है। यह एक शुद्ध धार्मिक नृत्य है। भील अपने-अपने घरों को छोड़ कर गावों से बाहर निकल जाते हैं। यह नृत्य शिव के जीवन पर आधारित होता है। यह सुबह से शाम तक होता रहता है। एक महीने से अधिक समय भील लोग बाहर रहते हैं। इसमें भीलों के सबसे अच्छे नृत्य-कौशल प्रदर्शित किये जाते है। ये कौशल बूढ़िया (शिव का लोकप्रिय नाम) के जीवन के धारावाहिक उपाख्यानों से सम्बंधित रहते हैं। रग और प्रकारों से ये नृत्य भरे हुए होते हैं। सारा दृश्य हमको दक्षिण भारत के कथाकली नृत्य की याद दिला देता है। इस नृत्य के पीछे कोई आर्थिक

दृष्टिकोण नही रहता। भील लोग भगवान भैरव के प्रति अपना धार्मिक कर्तव्य सम्पन्न करने के लिये ही इस बड़े नृत्य-दल में शरीक होते हैं। इस प्रदर्शन के बहुत ही रुचिकारक उपाख्यान भियांवड़, बंजारा, खडलिया भूत और शेर सुअर युद्ध हैं। ये सभी नाटय अपने अर्थो मे प्रतीकात्मक हैं। इसमे पुरुष ही स्त्रियों का काम करते हैं। इसे वे महोत्त्सव के रूप मे सम्पन्न करते है।

(ख) बणजारों के नृत्य

बणजारा एक घुमन्तू जाति है और इसका मुख्य व्यवसाय एक स्थान से दूसरे स्थान पर बोझ ले जाना है। व्यापार ही इनका मुख्य व्यवसाय है। ये स्थान–स्थान बोझा ढोये वाणिज्य करते रहते हैं। आजकल मोटरों के उन्नतिशील आवागमन के बढ़ाव के कारण यह जाति लगभग बेकार हो गई है। एक समय था जब ये लोग लाखों रुपये कमा लेते थे और लाखा बणजारा कहलाते थे। इनकी घुमक्कड़ी प्रकृति बहुत हद तक बदल गई है। अधिकाश मे ये लोग कुछ गांवों मे बस गये हैं और इन्होंने सड़क बनाना तथा दूसरे निर्माणात्मक काम व अन्य छोटे-मोटे श्रम के काम अपना लिए हैं। इस प्रकार के परिवर्तन से उनके जीवन का आनन्द और उल्लास बहुत कुछ मारा गया है। उनके आनद मे अब इतना उत्साह नही रह पाया है। वे आम तौर से जोड़ों से नाचते हैं और नाचते समय अपने को लगभग भूल जाते हैं। मुख्यत: उनकी स्त्रियों की पोशाके बड़ी कलात्मक और आकर्षक रहती है। साधारणतया नृत्य के साथ मुख्य वाद्य ढोलक रहती है किन्तु कभी कभी उसकी अनुपस्थिति मे थाली और कटोरियों से भी वे सगीत पैदा कर लेते है। फाल्गुन ओर चैत के महीने मे गनगौर पर्व पर वे नृत्य करते है। बणजारों ने अपनी स्थायी बसावट के लिये इन पहाड़ी प्रदेशों को ही चुना है। क्योंकि माल के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने मे अबभी कुछ काम प्राप्त कर सकते है।

(ग) नट और उनके साहसी कौतुक

नट साधारणतया तीन प्रकार के है। (१) राज नट (२) दक्खिनी नट (३) भाट नट। मूल रूप से वे एक ही जाति के है। किन्तु पेशे सम्बधी विद्वेष और परिवर्तन के कारण एक दूसरे से अलग हो गये।

राज नटों को राजाओं से सरक्षण प्राप्त होता था। किन्तु जब से उनकी सरक्षता दूसरे प्रकार के मनोरंजकों के पास चली गई तब से वे बेकार हो गये है। धीरे-धीरे उनके पास पैसा भी नही रहा और इन दिनों इनकी आर्थिक स्थिति बड़ी सकटग्रस्त और चितनीय है। केवल जाट ही ऐसे लोग है जिन्होंने उनका यजमान होना स्वीकार किया है और उत्सवों के अवसरों पर उनके साहसी क्रीड़ा-प्रदर्शनों के लिये उन्हे कुछ देते हैं। ये सबसे निम्न जाति मे गिने जाते है और केवल गांवों की सीमा मे ही रहने की इनको आज्ञा है। नटनियों ने आजकल भीख मागना शुरू किया है और बहुत कम मूल्य मे नट अपनी कला का प्रदर्शन करते है। उनके मुख्य प्रदर्शन निम्नलिखित है—

(१) सब से अधिक कठिन ढंगों मे रस्से पर चलना।
(२) एक आदमी को बांस के सिरे पर रोके रखना। (रस्से पर बिना किसी सहारे के चलते हुए एक दूसरे आदमी के बदन पर यह बांस टिका रहता है)।
(३) टांगे ऊपर और सिर नीचा करके हाथों के बल रस्से पर चलना।
(४) कुर्सी पर बैठ कर जिसकी केवल दो टांगे एक ढीले रस्से पर टिकी रहती है शरीर का संतुलन करना।
(५) दोनों पैर एक थाली मे रखकर रस्से पर चलना।
(६) भारी हल को जीभ पर बिना किसी सहारे के थामे रखना।
(७) अन्य कई प्रकार की कलाबाजियां दिखाना।

ये सभी साहसिक कृत्य अपनी असाधारण और आश्चर्यजनक प्रकृति के कारण दर्शको के दिमाग मे बड़ी विचित्र सनसनी पैदा करते है। इनके कुछ काम तो मानवीय कल्पना के बाहर की वस्तुएं है। इनके साथ जो ढोल बजता है और गायन होता है वह भी बड़ा चित्ताकर्षक है।

नटों का सामाजिक जीवन

वर्ष भर मे वे आमतौर से आठ महीनों के लिये बाहर रहते हैं और बाकी महीनों मे अर्थात् वर्षा ऋतु मे लगभग घर पर निठल्ले रहते है। इन दिनों आर्थिक दृष्टि से इनकी यात्रा कतई लाभदायक नही रहती है। इस समय इनकी सामान्य प्रवृत्ति किसी न किसी प्रकार

का अन्य जीविका का साधन ढूंढने की रहती है। खेती-बाड़ी के लिये भी उनके पास उनकी निजी जमीन नहीं रहती है और सामाजिक दृष्टि से भी उनको जमीन अधिकृत करने का अधिकार नही रहता है।

सज्जनखां का डेरा—यह निम्बाहेड़ा के पास है और राजस्थान के राज नटों का मुख्य स्थान है। सज्जनखां एक हिन्दू थे। इन्होंने शौकिया मुसलिम नाम रख लिया था। करीब ४०० वर्ष पूर्व ये नटों के मुखियाओं में से थे। स्थान का नाम मुखिया के नाम पर ही रक्खा गया है। बहुत पहले से ही नट पहाड़ी हिस्सों में बस गये है। कुछ कुशल कलाकार मोगिया, बनचड़, वगड़िया, कनचंदिया आदि गांवों में पाये जाते हैं जो राजस्थान और मध्यभारत की सीमा पर हैं।

चमनसिंह उनके सब से बड़े नेता थे। ये पचास वर्ष पूर्व हुए हैं। ये अपने शारीरिक कौशल के लिये बहुत विख्यात थे।

दक्खिनी नट को गंदियो नट भी कहते हैं। ये केवल नाम मात्र के नट कहलाते है। उनमे उक्त नटों का सा कौशल नही होता। वे केवल आजीविका के लिये हैं, भिक्षा मांगने के लिए एक बेढगे और भद्दे तरीके से नृत्य करते है। अपनी गरीबी के कारण ये एक बहुत ही अभागी और दुखद जिन्दगी बिताते है। अकाल पीड़ित क्षेत्र मे उनको कुछ काम मिल जाता है अन्यथा तो उनका मुख्य धधा भीख मॉगना है। औरतों को वेश्या वृत्तिका सहारा भी लेना पड़ता है।

(घ) बागड़िया

ये राजस्थान के करीब-करीब सभी भागों मे पाये जाते हैं। किन्तु इनमें से कुछ पहाड़ी भागों मे व्यवस्थित हो गये हैं, विशेषतः ऐसे भागो मे जहां खजूर के वृक्ष बहुतायत से मिलते हैं। उनका मुख्य धंधा ताड़ की पत्तियों की झाड़ू बनाना और पड़ौस के गांवों मे बेचना होता है। वे एक स्थान पर जम कर गृहस्थ जीवन नही बिताते और आमतौर से एक गांव से दूसरे गॉव को घूमते फिरते है और खानाबदोश जिन्दगी बिताते है। ये परिगणित जातियों मे बहुत निम्न दृष्टि से देखे जाते है। बुहारे बेचने के अलावा हाल ही मे भीख मांगना भी उनका प्रिय पेशा हो गया है। स्त्रियां भीख मांगते समय नाचती है। ये जो मुख्य वाद्य काम मे लाते है वह चंग है। पुरुष आमतौर से नृत्य नहीं करते हैं किन्तु वे अपनी

पत्नियों को नाचते समय बेपरदा होने की आज्ञा दे देते हैं। इस जरिये से उनको अधिक पैसा मिल जाता है। इनके नृत्य सगीतमय और लय बद्ध होते हैं। होली के मुख्य अवसर पर वे दरवाजे-दरवाजे नाचते-गाते रहते है। इनके स्थायी घर गोगाथाला, हकरोडा और कुवारिया के पास बगड़ियों की भटोली मे हैं।

(ङ) गरासियों के नृत्य

यह जाति आबू की पहाडियों और सिरोही मे रहती है। चिन्हों मे यह भीलों से मिलती है। ये भी सामुदायिक नृत्यों मे बहुत प्रगतिशील है। प्राय: कठिन परिश्रम के बाद ये आनद और उल्लास के लिये नृत्य करते हैं। इनका सबसे अधिक मोहक नृत्य गर्बा है। इसमें केवल स्त्रियां ही भाग लेती है। यह अधिक प्रभावोत्पादक होता है और इसमे भिन्न-भिन्न प्रकार के अग-सचालन होते हैं। होली के त्यौहार पर ये बड़े प्रफुल्लचित्त दिखलाई पड़ते हैं। गणगौर का भी उनके जीवन मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये गणगौर बडे कलात्मक रूप मे मनाते हैं और इसी त्यौहार से सम्बधित उनके सबसे अच्छे नृत्य होते है। इनके नृत्यों का विवरण नीचे दिया गया है—

१. वालर—यह नृत्य विशेष गणगौर के त्यौहार के बीच मे होता है। इसमें स्त्री और पुरुष साथ मे नृत्य करते हैं। स्त्रियां अलग भी नाचती हैं तब यह वालर संख्या दो के रूप मे जाना जाता है। ये दोनों वालर सामुदायिक सगीत के साथ होती हैं। एकरूपता और शारीरिक अंग-संचालन की सजीवता उनकी विशेषताएं हैं। भीलों के घूमर नृत्य से यह बहुत मिलता-जुलता है किन्तु यह और भी संजीदगी-युक्त है।

२. गेर नृत्य—यह भी ठीक भीलों के ही जैसा होता है। फर्क केवल इतना ही होता है कि इसमें स्त्रियां भाग नहीं लेती हैं। यह नृत्य भी डंडियों से नाचा जाता है। एक बड़ा ढोल और एक थाली संगीत रूप में साथ करते है। यह एक बड़ा जिन्दादिली नाच होता है और साधारणतया होली के मध्य मे किया जाता है। कुछ समय पूर्व वे दिन के कठिन परिश्रम के बाद प्राय: प्रतिदिन नृत्य किया करते थे किन्तु अब वर्तमान समय के प्रभाव के बाद वे

त्योहारों के ही अवसरों पर नृत्य करते हैं। उनकी पोशाकें बड़ी कलात्मक और मौलिक होती है।

३. चंग नृत्य—यह नृत्य होली मे ही किया जाता है। पुरुप चग बजाते हुए अव्यवस्थित भीड़ मे इधर-उधर घूमते रहते हैं। एक आदमी चग बजाता है। बाकी अपने हाथों मे छड़ियां लिये हुए लयबद्ध रूपमे कूदते हैं। इस नृत्य की विशेषता केपल लय मे कूदना और बहुत ही निम्न कोटि के रोमांस (प्रेम और शृंगार) के गीत गाना है। इस नृत्य मे स्त्रियां भाग नही लेती हैं। वे केवल पुरुषों के पीछे चलती हैं और अपने गीत गाती हैं।

(च) काळवेलियों के नृत्य

कई दृष्टियों से काळबेलिया (सपेरा) अजीब आदिवासियों मे हैं। अध्ययन और खोज के लिये उनका जीवन एक स्वतत्र विषय हो सकता है। उनके सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से विचित्र चिन्ह है।

सांप का पकड़ना उनकी चतुराई पर ही निर्भर नहीं करता, उनके सगीत और नृत्य पर भी निर्भर करता है। एक अच्छा गायक और पूंगी का बजाने वाला ही सफल काळवेलिया बन सकता है। "पणिहारी" और 'इन्डोणी' जैसी कुछ धुने ऐसी हैं जिनमे सांपों को मोहित करने के विशेष गुण होते हैं। पूगी भी एक मोहक वाद्य होता है। इसको वे सूखे तुम्बे अथवा नुकीली लौकी का बनाते हैं। पूगी बनाना भी एक कला है। लौकी को भी विशेष रूपसे तैयार किया जाता है। औसत काळवेलिया को संगीत की प्राकृतिक देन है। उसको द्वार-द्वार जाना पड़ता है। गांव गांव जाना होता है। इस प्रकार इस भटकने वाली आदत ने लोगों को आकृष्ट करने के लिए उसको बड़ी चतुराई सिखादी है। उनकी स्त्रियॉ भी नृत्य और गायन द्वारा आजीविका कमाने मे बड़ी होंशियार रहती हैं। कभी-कभी नृत्यों मे स्त्री और पुरुष दोनों शामिल हो जाते हैं और इस प्रकार उनकी आमदनी बढ़ जाती है। उनके प्रिय नृत्य निम्न प्रकार से हैं–

(१) इन्डोणी (२) शकरिया (३) और पणिहारी।

इन्डोणी और पणिहारी राजस्थान के दो बहुत ही लोकप्रिय गीत हैं। इन्डोणी एक मिश्रित नृत्य होता है और गोलाकार रूप मे किया

जाता है। इसका साथ करने वाले खास वाद्य पूँगी और खँजरी हैं। औरतों की पोशाक भी बड़ी कलात्मक होती है। बदन पर मणियों की सजावट रहती है तथा दूसरी सजावट के मौलिक अलकरण रहते हैं। वे चोली और घाघरा पहनती हैं। चोली पर बेल बूँटों की कढ़ाई रहती है।

(२) शंकरिया—सबसे अधिक आकर्षक युगल नाच है। यह एक कहानी चित्रित करता है। एक युवक एक तरुणी से प्रेम करता है। वह पहले से ही दूसरे युवक के प्रेम पाश मे बँधी है। नृत्य मे अंग-संचालन बहुत सुन्दर होता है। इस नृत्य का सामान्य प्रभाव प्रेम का पड़ता है किन्तु इसके अन्दर एक गहरी कला है।

(३) पणिहारी—यह नृत्य प्रसिद्ध गीत 'पणिहारी' पर आधारित है। यह भी युगल नृत्य है। दर्शकों पर इसका जादू का सा प्रभाव पड़ता है। काळवेलिये वास्तव मे कलाकार हैं उनकी बस्तियाँ सरदारगढ़ के पास अगाड़िया और कुँवारिया के पास धूटी हैं। होली उनका मुख्य त्यौहार होता है। इसमें इनकी स्त्रियां चंग लेकर घर-घर गाने और नृत्य दिखलाने के लिए जाती हैं।

(छ) अड़भोपा और रंगास्वामी

अड़भोपे पीढ़ियों से सामुद्रिकशास्त्री (हस्तरेखा बतलाने वाले) हैं और ऐसा कहा जाता है कि किसी समय वे अपनी कला के अधिकारी थे। किन्तु आजकल उनको अपनी विकट आर्थिक स्थिति के कारण भीख मांगना पड़ता है। वे लगभग चिथड़े पहने हुए होते हैं। किंतु सगीत मे उनको प्राकृतिक देन मिली हुई होती है। उनको भिन्न-भिन्न प्रकार की धुने याद हैं। उनकी आवाज भी बड़ी सुरीली होती है। गाते समय स्त्रियाँ नृत्य करती हैं। किन्तु उनको कोई आनन्द महसूस नहीं होता। क्योंकि उनको मात्र अपनी आजीविका के लिए यह करना पड़ता है। उनकी हालत बड़ी चितनीय है। उनमे से अधिकांश के घर ही नहीं होते। कॉकरोली और नाथद्वारे के पास कुछ गांवों मे इन्होंने शरण ले रक्खी है।

(ज) भवाई नृत्य

संगीतज्ञों और नृत्यकारों की यह एक जाति है। इसमें जाटों के अलावा चमार, बोळे, रैगर, मीणे, भील, कुम्हार आदि भी शामिल हैं।

में यह नृत्य राज परिवारों और अमीर घरानों तक ही सीमित है। यहाँ यह कुछ दूषित रूप मे मिलता है किन्तु इसका शिक्षात्मक व सांस्कृतिक मूल्य है। मोहित करने वाले गीतों के साथ यह होता है। राजस्थान के जीवन मे घूमर के गीतों का विशेष महत्त्व है। इसकी धुन बड़ी मादक है।

(ख) बीकानेर के अग्नि-नर्तक

थार के रेगिस्तान के सुदूर भागों मे एक हृष्ट-पुष्ट जाति सिद्ध जाट के नाम की रहती है। वे सुप्रसिद्ध गुरू गोरखनाथ के शिष्य हैं और गोरखपंथी धर्म के अनुयायी हैं। यह सम्प्रदाय अपने यौगिक चमत्कारों के लिये सुविख्यात है। अन्तिम गुरुओं मे एक गुरू जसनाथजी नाम से इस मत मे हो चुके हैं। बीकानेर से सटे हुए एक गांव मे इनकी समाधि अब भी विद्यमान है। ये सिद्ध जाट इस मत के कट्टर अनुयायी हैं। वे सभी भगवां वस्त्र धारण करते हैं। इस धर्म के नियमों का बड़ी कड़ाई से पालन करते हैं। अन्य यौगिक चमत्कारों के अलावा एक बहुत ही आश्चर्यजनक चमत्कार इनका जलती हुई आग पर नृत्य करना है। उनसे ज्ञात हुआ है कि यह चातुर्य्य किसी रहस्यपूर्ण शक्ति द्वारा ही उनको प्राप्त हुआ है।

वे सैकड़ों मन लकड़ी जला लेते हैं और उसकी आग बना लेते हैं। बडे ढोल, भेर के साथ बजाये जाते हैं। गुनगुनाती आवाज मे वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला एक गीत गाया जाता है। ज्योंही साथ में बजने वाले संगीत से वे प्रेरित होते हैं इन लोगों मे से एक दल जिसमे बुड्ढे, जवान और बच्चे भी शामिल होते हैं आग मे कूद पड़ता है और बहुत मजे मे वे नाचते रहते हैं। धीरे-धीरे उनका नृत्य फड़काने वाला बनता जाता है। जब वे नृत्य के वातावरण मे पूरी तरह घुल-मिल जाते हैं, तब नाचते नाचते वे कुछ अंगारों को उठा लेते हैं और दूसरों की तरफ फेंकते हैं। किन्तु इसमे किसी के बदन को कुछ भी नुकसान नहीं होता। समूचे नृत्य में आधे घटे से अधिक समय नहीं लगता। किन्तु इतनी देर में यह बड़ा सनसनी खेज दृश्य उपस्थित कर देता है। अंगारों से किसी प्रकार का जलने का चिन्ह भी नहीं मिलता है। इसके लिये वे किसी प्रकार की विशेष पोशाक भी नहीं पहनते। केवल मर्द ही इसमे भाग लेते हैं। नृत्य का कोई अधिक कलात्मक मूल्य नहीं है।

फाल्गुन और चैत्र में यह नृत्य किया जाता है। यह नृत्य स्वान्तः सुखाय है किन्तु कभी-कभी यह पेशे का भी रूप ले लेता है। बीकानेर के स्वर्गीय महाराजा गंगासिहजी इस नृत्य के सबसे बड़े संरक्षकों मे थे। वे नृत्यकारों को विशेष उत्सव एवं समारोहों मे निमंत्रित करते और पर्याप्त धन भी दिया करते थे। कटरियासर, भामलू, डिकमदेसर आदि इन नर्तकों के गांव हैं।

(ग) जालोर के ढोल नर्तक

राजस्थान के मरुस्थलीय क्षेत्र में दूसरा पेशेवर नृत्य जो ख्याति-प्राप्त है वह है जालोर जिले का ढोल नृत्य। इस नृत्य को प्रकाश मे लाने का श्रेय हमारे राज्य के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री जय-नारायण व्यास को है। उन्होंने अपने राजकीय भ्रमण के सिलसिले में इस नृत्य को जालोर के एक कोने में देखा था। यह नृत्य विशेष केवल एक जाति तक ही सीमित नहीं है। यह चार जातियों के लोगों द्वारा किया जाता है। ये हैं पाली, ढोली, सरगड़ा और भील। यह पेशेवर लोक नृत्य है और विवाह के अवसरों पर विशेषतः किया जाता है। यह शुद्धतया मर्दाना नाच है। यह तीन चार नृत्यों का सामंजस्य है। सरगड़ों के द्वारा ढोल बजाया जाता है जो उदयपुर के ढोलियों से मेल खाते हैं। साधारणतया एक साथ चार या पांच ढोल बजाये जाते हैं। ढोल का मुखिया इसको 'थाकना' शैली मे बजाना शुरु करता है। ज्योंही यह 'थाकना' समाप्त हो जाता है, अन्य नर्तक एक अपने मुंह मे तलवार लेकर, दूसरा अपने हाथों मे डंडे लेकर, तीसरा अपनी भुजाओं में रुमाल लटकाता हुआ और बाकी के सामान्य लयबद्ध अंग संचालन में एक चित्रात्मक शैली में नृत्य करना शुरु करते हैं।

सरगड़ा और ढोली पेशेवर लोक-गायक और ढोलवादक हैं। यद्यपि वे पिछड़ी जातियों मे हैं तथापि वे कला मे बड़े दक्ष हैं। ये कला की सर्व श्रेष्ठ परम्परायें अपनाये हुए हैं। क्योंकि परम्परागत इनका यही पेशा चला आता है। दूसरे इसमे भाग लेने वाले पेशेवर लोक नृत्यकार नहीं होते हैं किन्तु संयोगवश वे अतिरिक्त आय के लिये इस पेशेवर दल मे शामिल हो जाते है।

यह नृत्य विशेष जालौर, उसके पड़ौस मे पड़ने वाले सुरना, बगड़ा आदि इलाकों मे पाया जाता है।

शताब्दियों पुराने तुर्रा किलगी के दंगल धीरे-धीरे मंच-प्रदर्शनों के रूप मे परिवर्तित हुए। लगभग ५० वर्ष पूर्व घोसुंडा मे ये इस रूप मे अवतरित हुए। ख्याल और रासधारियों की शैली से प्रभावित होकर तुर्रा किलगी के दंगलकर्ताओं ने लोकप्रिय ख्यालशैली पर नृत्य-नाट्य रचे और प्रस्तुत किये। समय पाकर इन नृत्यनाट्यों का तुर्रा किलंगी से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। ये उस समय के चालू भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे गये। पर इनकी गायन शैली निस्सदेह तुर्रा किलंगी से ली गई थी। इनकी विशेषताये भी लगभग अन्य ख्यालों के समान ही हैं। कुछ मुख्य ये हैं—

(१) पेशेवर प्रकृति का न होना।
(२) सुन्दर-कलात्मक मंच और सजावट।
(३) पैरों के काम की सादगी।
(४) काव्य का प्रभुत्त्व।
(५) सामुदायिक मनोरजन का गुण।

तुर्राकिलगी के कार्य-कलापों के मुख्य केन्द्र घोसुंडा, चित्तोड़, निम्बाहेड़ा और नीमच हैं। इन स्थानों ने सब से अच्छे तुर्राकिलंगी बनाने वालों को जन्म दिया है। उदाहरणार्थ सर्व श्री चैनराम, जयदयाल, ताराचंद, और ठाकुर ओंकारसिह। इनमे सबसे अधिक बढ़-चढ़ कर सोनी जयदयाल थे। वे वास्तव मे एक संत थे। अब भी उनके ख्याल बहुत लोकप्रिय हैं। उनकी मृत्यु के बाद भी लोग उनके ग्रथों को बड़े आदर से याद करते हैं।

आधुनिक सिनेमा का आगमन इनके पतन का मुख्य कारण है। तुर्राकिलंगी के दंगल पवित्र उद्देश्य से शुरू हुए थे। बाद मे एक दूसरे दल को नीचा दिखाने की ही नीति रह गई। कभी-कभी तो शांति और व्यवस्था के लिए पुलिस की भी जरूरत पड़ती थी। मंच खड़ा करने और सजावट के काम मे भारी खर्चा हो जाता था। इसका बहुत दिनों तक चलन नहीं रह सका क्योंकि चारों ओर आर्थिक सकट भी था।

रेगिस्तानी भागों के लोकानुरंजन

रेगिस्तानी इलाकों मे स्वान्तःसुखाय मनोरजनों की अधिकता नहीं है। केवल होली आदि उत्सवों के अवसर पर ऐसे अनुरंजन होते हैं

जिनमें सभी जाति एवं वर्ग के लोग भाग लेते हैं। ये सभी लोग साथ मिलकर होली मनाते हैं। बीकानेर मे होली का विशेष महत्त्व है। जब लोग गुलाल, रंग आदि से खेलते, नृत्य और गायन करते हैं तब वे अपने आपकी सुध भूल जाते हैं। किसी भी प्रकार का जाति-पांति का भेद-भाव नहीं रहता। नृत्य की अपेक्षा संगीत का महत्त्व अधिक रहता है। कलात्मक जुलूस बड़े ही आनन्द और उत्साह से निकाले जाते हैं। इस सामुदायिक अथवा सामूहिक मनोरंजन के सिवाय कोई दूसरा प्रकार यहां विद्यमान नही है। निम्न समाजों मे अवश्य यह मिलता है। इसका वर्णन इस प्रकार है।

(क) झूमर और घूमर

झूमर या घूमर राजस्थान के सबसे अधिक लोकप्रिय नृत्यों में से हैं। यह लगभग सभी परिवारों मे भिन्न-भिन्न रूपों मे प्रचलित हैं। यह विशुद्ध औरतों का ही नृत्य है और होली, गणगौर, दीवाली जैसे त्यौहारों के अवसरों पर मध्यवर्गीय घरानों मे सम्पन्न किया जाता है। यह गुजरात के गर्बा नृत्य से मिलता-जुलता है और इसका प्रभाव भी बड़ा मर्मस्पर्शी है। जब पति-पत्नी नृत्य करते हैं तब यह युगल नृत्य का भी रूप ले लेता हैं। इस नृत्य की तीन भिन्न-भिन्न किस्में हैं। एक उदयपुर मे प्रचलित है, दूसरी जोधपुर मे और तीसरी कोटा और बूंदी के आसपास। उदयपुर की घूमर सगीतमयी और विशेषताओं मे गर्बा से बहुत मेल खाती है। जोधपुर की घूमर भी कलात्मक होती है किन्तु अंग-संचालन में इतना ऐक्य नहीं होता। कोटा-बूंदी की घूमर बहुत सजीव और प्रभावोत्पादक होती है।

राजस्थान की औरतों के लिये राजस्थान की घूमर एक "राष्ट्रीय नत्य" कहा जा सकता है। स्त्रियों का यह एक सामूहिक नृत्य है और कुछ एक बंधे हुए गीतों से वे इसमे सैकड़ों की संख्या मे भाग ले सकती हैं। औरतें गोलाकार रूप मे घूमती है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की घूमरों के अतिरिक्त कुछ घूमरों की और भी किस्मे हैं। एक घूमर छोटे-छोटे डंडों से की जाती है। दूसरी जोड़ों के साथ की जाती है। तीसरी परदा डालकर गोलाकार गति में रफ्तार के साथ की जाती है। बीकानेर और सुदूर रेगिस्तानी इलाकों

इस जाति में आपस में बड़ा प्रेम होता है। ये यजमान के यहाँ जाकर खेल दिखाते हैं। इनके खेल धार्मिक नहीं होते। दैनिक घटनाओं को ही वे नृत्य में बाँधते हैं। उसे बड़ी दक्षता से प्रस्तुत करते हैं। इनका शरीर बड़ा स्वस्थ रहता है। इनके नृत्य कसरतमय होते हैं। इनकी स्त्रियाँ इनके साथ प्रदर्शन नहीं करती। वर्षा के चार महिनों में ये घर पर रहते हैं और शेष समय बाहर। भवाइयों के कई प्रकार के नाच होते हैं। जैसे-

१. बोरा बोरी—इसमे ये बनिये का चरित्र-चित्रण करते हैं। जनता को हंसा-हंसा कर लोट-पोट कर देते हैं।
२. सूरदास—इसमे एक अंधे साधू का चरित्र दिखलाया जाता है। यह साधु कुचरित्री है। गाँव की स्त्रियों से यह छेड़छाड़ करता है। इसमें ये लोग शारीरिक कसरत दिखलाते हैं।
३. लोड़ी वड़ी—इसमे एक अधेड़ व्यक्ति का चरित्र प्रदर्शित किया जाता है। उसके दो पत्नियाँ हैं। वे आपस में कलह करती रहती हैं। पति घबराकर घर छोड़ देता है।
४. डोकरी—एक बुढ़िया अपनी लड़की को रुपयों के लालच में पड़ कर अयोग्य वर को ब्याह देती है। लड़की का जीवन नरक मय हो जाता है।
५. शकरिया—इसमें श्रृंगारिक अंश है। एक सँपेरा सँपेरी से प्रेम करता है। वह भी उससे प्रेम करती है किन्तु ऊपर से प्रकट नहीं होने देती।
६. बीकाजी—इसमे बीकानेर बसाने वाले बीकाजी के जीवन का चित्रण है। इसमें राजा और रानी का प्रेम दिखलाया गया है। बीकाजी विदेश जाते हैं। पीछे से रानी वियोग के दुःख के कारण उल्टी-सीधी सुनाती है। राजाजी वापिस लौट आते हैं।
७. बाघाजी—इसमें बाघाजी और भारमली का प्रेम दिखलाया जाता है। बाघाजी तीर्थ-यात्रा पर जाते हैं। पीछे से वह विरहव्यथा के बड़े मार्मिक गीत गाती है।
८. ढोलामारू—राजस्थान के लोककाव्य ढोलामारू पर रचित यह नृत्य-नाट्य है। इसमें ढोला और मारू के विवाह का चित्रण है। भवाई इसे बड़ी सुन्दरता से करते हैं।

९. कमल का फूल—इसमे नृत्यकार नृत्य करते हुए सात विविध रंगों की पगड़ियों का कमल मय पंखड़ियों और डंडी के गूँथ देता है।
१०. मटकों का नाच—इसमे भवाई सात मटकों को अपने सिर पर लेकर नाचता है। तीव्र गति मे वह चक्कर लगाता है।
११. बोतल—इसमे नृत्यकार जलती हुई बोतल को अपने सिर पर रख कर नाना प्रकार की कलाबाजियाँ बताता है।
१२. तलवारों का नाच—इसमे नृत्यकार तलवार की नोक को हाथ मे पकड़कर और अपनी मुट्ठी पर एक लड़की को बिठलाकर बड़ी तेज गति से नाचता है।

शहरी सम्पर्क के कारण आजकल इन्होंने कुछ सिनेमा की भी धुनें अपना ली हैं। ये पिछड़ी हुई जातियों की श्रेणी में आते हैं किन्तु इनकी आर्थिक स्थिति ठीक है।

(झ) रासधारियां

मूल रूप मे रासधारियों का तात्पर्य्य भगवान कृष्ण की रासलीला से था और उनके जीवन के भिन्न भिन्न रूपों का ये चित्रण करती थी। बाद में इन्होंने दूसरे विषय भी शामिल कर लिये। मेवाड़ के मोतीलाल जाट द्वारा करीब चालीस वर्ष पूर्व पहला रासधारी नाटक लिखा गया था। प्रचलित ख्यालों से इसकी शैली एक दम भिन्न है। यह शैली उदयपुर और इसके पास पड़ौस मे भी प्रचलित है। यह शैली मारवाड़ में भी फैल गई है। रेगिस्तान के लोकानुरंजन मे हम इस विषय पर प्रकाश डालेगे।

(ञ) चित्तोड़ के तुर्रा किलंगी

आज से लगभग ४०० वर्ष पूर्व शाहअली और तुरनगिरी नामक दो संतों ने इस शैली को जन्म दिया। तुर्रा शिव का प्रतीक माना जाता है और कलंगी शक्ति (पार्वती) का। तुरनगिरि तुर्रा सम्प्रदाय के थे और शाहअली किलंगी के। दोनों संतों ने शिव और शक्ति के दर्शन को अपने-अपने तरीके से प्रचारित किया। वे काव्य प्रतियोगिता के दगल लगाया करते थे। इनमे काव्य द्वारा उनके मतावलम्बी जटिल दार्शनिक विचारों को सुलझाते थे। तुर्रा किलंगी का संप्रदाय उस समय राजस्थान मे बहुत लोकप्रिय हुआ और राजस्थान-मध्यभारत की हद तक फैल गया।

इस जाति मे आपस में बड़ा प्रेम होता है। ये यजमान के यहाँ जाकर खेल दिखाते हैं। इनके खेल धार्मिक नहीं होते। दैनिक घटनाओं को ही वे नृत्य में बाँधते हैं। उसे बड़ी दक्षता से प्रस्तुत करते हैं। इनका शरीर बड़ा स्वस्थ रहता है। इनके नृत्य कसरतमय होते हैं। इनकी स्त्रियाँ इनके साथ प्रदर्शन नही करती। वर्षा के चार महिनों मे ये घर पर रहते हैं और शेष समय बाहर। भवाइयों के कई प्रकार के नाच होते हैं। जैसे–

१. बोरा बोरी—इसमे ये बनिये का चरित्र-चित्रण करते हैं। जनता को हंसा-हंसा कर लोट-पोट कर देते हैं।

२. सूरदास—इसमें एक अंधे साधू का चरित्र दिखलाया जाता है। यह साधु कुचरित्री है। गाँव की स्त्रियों से यह छेड़छाड़ करता है। इसमें ये लोग शारीरिक कसरत दिखलाते हैं।

३. लोड़ी बड़ी—इसमें एक अधेड़ व्यक्ति का चरित्र प्रदर्शित किया जाता है। उसके दो पत्नियाँ हैं। वे आपस मे कलह करती रहती हैं। पति घबराकर घर छोड़ देता है।

४. डोकरी—एक बुढ़िया अपनी लड़की को रुपयों के लालच में पड़ कर अयोग्य वर को ब्याह देती है। लड़की का जीवन नरक मय हो जाता है।

५. शकरिया—इसमे श्रृंगारिक अंश है। एक सँपेरा सँपेरी से प्रेम करता है। वह भी उससे प्रेम करती है किन्तु ऊपर से प्रकट नहीं होने देती।

६. बीकाजी—इसमें बीकानेर बसाने वाले बीकाजी के जीवन का चित्रण है। इसमें राजा और रानी का प्रेम दिखलाया गया है। बीकाजी विदेश जाते हैं। पीछे से रानी वियोग के दु:ख के कारण उल्टी-सीधी सुनाती है। राजाजी वापिस लौट आते हैं।

७. बावाजी—इसमें बावाजी और भारमली का प्रेम दिखलाया जाता है। बाघाजी तीर्थ-यात्रा पर जाते हैं। पीछे से वह विरहव्यथा के बड़े मार्मिक गीत गाती है।

८. ढोलामारू—राजस्थान के लोककाव्य ढोलामारू पर रचित यह नृत्य-नाट्य है। इसमें ढोला और मारू के विवाह का चित्रण है। भवाई इसे बड़ी सुन्दरता से करते हैं।

९. कमल का फूल—इसमे नृत्यकार नृत्य करते हुए सात विविध रंगों की पगड़ियों का कमल मय पंखड़ियों और डंडी के गूँथ देता है।
१०. मटकों का नाच—इसमे भवाई सात मटकों को अपने सिर पर लेकर नाचता है। तीव्र गति मे वह चक्कर लगाता है।
११. बोतल—इसमे नृत्यकार जलती हुई बोतल को अपने सिर पर रख कर नाना प्रकार की कलाबाजियाँ बताता है।
१२. तलवारों का नाच—इसमे नृत्यकार तलवार की नोक को हाथ मे पकड़कर और अपनी मुट्ठी पर एक लड़की को बिठलाकर बड़ी तेज गति से नाचता है।

शहरी सम्पर्क के कारण आजकल इन्होंने कुछ सिनेमा की भी धुनें अपना ली हैं। ये पिछड़ी हुई जातियों की श्रेणी मे आते हैं किन्तु इनकी आर्थिक स्थिति ठीक है।

(झ) रासधारियां

मूल रूप मे रासधारियों का तात्पर्य्य भगवान कृष्ण की रासलीला से था और उनके जीवन के भिन्न भिन्न रूपों का ये चित्रण करती थी। बाद मे इन्होंने दूसरे विषय भी शामिल कर लिये। मेवाड़ के मोतीलाल जाट द्वारा करीब चालीस वर्ष पूर्व पहला रासधारी नाटक लिखा गया था। प्रचलित ख्यालों से इसकी शैली एक दम भिन्न है। यह शैली उदयपुर और इसके पास पड़ोस मे भी प्रचलित है। यह शैली मारवाड़ में भी फैल गई है। रेगिस्तान के लोकानुरंजन मे हम इस विषय पर प्रकाश डालेगे।

(ञ) चित्तोड़ के तुर्रा किलंगी

आज से लगभग ४०० वर्ष पूर्व शाहअली और तुरनगिरी नामक दो संतों ने इस शैली को जन्म दिया। तुर्रा शिव का प्रतीक माना जाता है और कलंगी शक्ति (पार्वती) का। तुरनगिरि तुर्रा सम्प्रदाय के थे और शाहअली किलंगी के। दोनों संतों ने शिव और शक्ति के दर्शन को अपने-अपने तरीके से प्रचारित किया। वे काव्य प्रतियोगिता के दगल लगाया करते थे। इनसे काव्य द्वारा उनके मतावलम्बी जटिल दार्शनिक विचारों को सुलझाते थे। तुर्रा किलंगी का संप्रदाय उस समय राजस्थान मे बहुत लोकप्रिय हुआ और राजस्थान–मध्यभारत की हद तक फैल गया।

(घ) डीडवाना और पोकरण की तेरताली

यह शैली शारीरिक कौशल अधिक प्रदर्शित करती है। लोक-नृत्य का अंश इसमे कम होता है। इसके द्वारा कामड़, भोमियों का दिल बहलाते हैं जो बलाई के नाम से भी जाने जाते हैं। एक समय था जब ये कामड़ भी भोमिया जाति मे थे किन्तु चूंकि इन्होंने अपना अन्य पेशा अख्तियार कर लिया, ये कामड़ कहलाये जाना अधिक पसन्द करते हैं। इनका व्यवसाय भोमिया परिवार का ऐतिहासिक विवरण एव पीढ़ियां याद रखने का भी है। अपने इष्ट देव श्री रामदेवजी के सामने विशेष अवसरों पर भोमियों के लिये वे गाते और नृत्य करते हैं। रात भर जागते हैं। कामडों के सारे दल में दो औरतें और दो पुरुष रहते हैं। आमतौर से वे एक ही परिवार के होते हैं। मर्द इकतारा बजाते है और स्त्रियां मजीरे बजाती हैं जो सारे शरीर मे एक विचित्र ढंग से बधे हुए होते हैं। सारे खेल मे मर्द गाने का काम करते हैं। औरते बड़ी कठिन मुद्राओं मे मजीरे बजाती हैं। इनकी कठिनता की कल्पना नहीं की जा सकती। मजीरे बजाते समय जो भाव वे प्रदर्शित करती हैं उनमे से कुछ ये हैं—

(१) अनाज साफ करना, (२) अनाज कूटना,
(३) अनाज काटना, (४) अनाज पीसना,
(५) आटा छानना, (६) गेहूँ के आटे मे पानी मिलाना,
(७) गेहूँ के फुलके बनाना, (८) बाजरे का आटा गूदना,
(९) बाजरे की रोटी बनाना, (१०) जमे हुए दूध से घी निकालना,
(११) घी तैयार करना, (१२) चरखे पर कातना,
(१३) सूत समेटना।

किसी कार्य की सिद्धि के लिए यजमान लोग रात का जागरण करवाते हैं। उसमे तेरहताली का भी कार्यक्रम रखते हैं। इस प्रकार इनके द्रव्य की प्राप्ति होती है। कामड़ राजस्थान के प्रायः सभी भागों मे पाये जाते हैं। किन्तु सभी की योग्यता समान नही है। जहां तक तेरहताली की कला का सम्बन्ध है डीडवाना और पोकरण के कामड विशेष उल्लेखनीय हैं। कामड़ गोरवी और धानकों की उपजाति है और सब मे तेज है। इनकी आर्थिक स्थिति भी तुलना मे ज्यादा ठीक है। इनके निजी जमीने हैं। ये स्थानीय जागीरदारों द्वारा दीगई है।

(ङ) जैसलमेर के मिरासी और लंगे

जैसलमेर राजस्थान के एक कोने मे पड़ जाता है। इस पर आधुनिक जीवन का प्रभाव बहुत ही कम है। संगीत युक्त उल्लेखनीय लोककला यहां नहीं के बराबर है। हां कुछ नृत्यकार और गायक यहां हैं। इनको महाराजा की ओर से संरक्षण प्राप्त है। यहां के कुछ मिरासी मॉड गायकी की उत्तम से उत्तम परम्परायें निभाये हुए हैं। ये मॉड राजाओं के विलास से सम्बन्धित हैं। यह शैली यद्यपि शास्त्रीय गायकी के समीप है तथापि यह लोक गायकी मे आती है। मिरासिनें भी गाने मे बड़ी प्रवीण होती हैं और उनका पेशा धनिक वर्गो के महोत्सवों के अवसरों पर गायन द्वारा उनको रिझाना है। जाति से मिरासी मुसलमान हैं किंतु हिन्दू टोलियों के सभी चिन्हों को इन्होंने अपना लिया है। उनकी औरते नृत्य करने मे बड़ी होंशियार होती हैं। इनके नृत्य यद्यपि कुछ असुन्दर होते हैं किन्तु फिर भी इनमें लोकनृत्य की बड़ी शक्ति होती है। जैसलमेर की आबादी बहुत कम है। इन लोगों को जीविका ढू ढ निकालने मे अपनी समस्त शक्ति लगा देनी पड़ती है। इस प्रकार इधर-उधर बिखरे हुए कुछ व्यक्तिगत नृत्य मिलते हैं। सारा रेगिस्तानी इलाका जिसमे बाड़मेर भी शामिल है किसी प्रकार की उल्लेखनीय आनन्ददायक लोककलाओं से शून्य नहीं है। मिरासियों की तरह ही लगा नामक एक दूसरी जाति और है जो कि गायन-कला मे बड़ी प्रवीण है। लंगा भी अपने यजमानों के यहां गाने के लिए जाते हैं।

(च) मारवाड़ की कच्छी घोड़ियाँ

कुचामण, परबतसर, डीडवाना और नींबोद पेशेवर मनोरंजनों के लिए बड़े सम्पन्न हैं। अन्य स्थानों पर उतनी कलात्मक उत्तमता नहीं मिलती। इनमे से एक मनोरंजन कच्छी घोड़ी का है। कच्छी घोड़ी का मतलब कमर तक की घोड़ी और कच्छ की घोड़ियाँ जो बड़ी विख्यात रही हैं उससे भी लिया जा सकता है। पिछड़े वर्ग के सरगड़े, बावरिये और कुम्हार इसको नाचते हैं। कच्छी घोड़ी का बनाना भी एक कला है। दो डालियों के दो बांस बांध दिये जाते हैं। उनके बीच मे कुछ जगह छोड़ दी जाती है। डालियों के एक सिरे पर घोड़े का सिर लगा दिया जाता है और दूसरे सिरे पर सन का रेशा। सिर कसीदाकारी से

रासधारी दूसरी शैलियों से कई प्रकार से भिन्न रहती हैं। एक खास भिन्नता तो यह है कि इसमे प्रदर्शनार्थ कोई मंच नही बनाया जाता। इसके अधिकांश विषय धार्मिक ही रहते है। ये राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज आदि से सम्बन्धित रहती हैं। विषयों के चित्रण में जो शैली अपनाई जाती है वह भी अधिकांश में नृत्य और गायन प्रधान है। ख्यालों के मुकाबले में इसके नृत्य ज्यादा अच्छे होते हैं।

इस नृत्य-नाट्य के साथ जो गीत गाये जाते हैं वे भी मौखिक ही रहे हैं। हजारों आदमी इससे निःशुल्क मनोरञ्जन लेते हैं।

(ट) कुचामणी ख्याल

शताब्दियों से राजस्थान मे भिन्न-भिन्न विषयों के ख्यालों का सृजन हुआ है। इन ख्यालों ने राज्य की ऐतिहासिक घटनाओं को बचाये रखने मे इतिहासकारों की सहायता की है। लगभग ४०० वर्षों से ऊपर की सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराये इन्होंने निभायी हैं। हमारी निगाह में २०० से ऊपर ख्याल आये हैं। समय-समय पर ख्याल लिखे जाते रहे हैं। ये ख्याल हजारों लोगों का निःशुल्क मनोरजन करते रहे हैं। राजस्थान के सुदूर भागों में जहां आधुनिक मनोरंजन के साधन नहीं पहुँच सके हैं यह लोकप्रिय शैली आज तक सांस्कृतिक और सामाजिक शिक्षण का बड़ा जरिया रहा है।

श्री लच्छीराम ने अपनी शैली के ख्याल लिखे हैं। उनके ख्यालों मे अन्य शैलियों की तुलना में निम्न विशेषतायें हैं—(१) नृत्यों के रूपों में नाट्य (२) गायन की प्रधानता (३) सगीत मे वाद्य-वादन की क्लिष्टता (४) मंच प्रदर्शन।

लच्छीराम की मुख्य विशेषतायें ये हैं—

१. गीतों मे भाषा की सरलता।
२ नई और सजीव धुने।
३. अभिनय करते समय जटिल भाव-प्रदर्शन।
४. नाटकों के लिए नवीन कथानक।

स्वर्गीय लच्छीराम अच्छे नृत्यकार भी थे। उन्होंने लिखने में बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। उन्होंने कोई १० ख्याल बनाये हैं। इनमें से मुख्य ये हैं (१) चन्दमलयागिरि (२) रिड़मल (३) और मीरां मंगल के ख्याल।

(ठ) भोपों के मनोरंजन

रेगिस्तान के भोपे देवी-देवताओं के पेशेवर भक्त हैं। उनका मुख्य व्यवसाय या तो इष्ट देवताओं के पूजा गृहों में गीत गाना या जजमान लोगों का मनोरंजन कर पैसा प्राप्त करना है। गाना, नृत्य करना और भिन्न-भिन्न प्रकार के चमत्कारिक काम दिखाना उनकी जीविका के जरिये हैं। वे अपनी कला मे प्रवीण होते हैं और अपने इष्टदेव के पूर्ण भक्त। वे लगभग सारे राजस्थान मे फैले हुए हैं और अर्द्ध खानाबदोशी जिन्दगी बिताते है। उनके भ्रमण के मुख्य प्रदेश बीकानेर और जोधपुर के भाग हैं। राजस्थान मे पांच प्रकार के भोपे हैं।

१. गोगाजी का भोपा—दद्रेवा के ठाकुर गोगाजी चौहान १६ वी शताब्दी के लगभग हो चुके हैं। वे गुरु गोरखनाथजी के शिष्य बतलाये जाते हैं। वे उस समय एक बहुत बड़े हिन्दू नेता थे। उन्होंने मुसलमानों के चंगुल से अनेक गायों को बचाया। गायों की रक्षा मे वे आक्रमण-कारियों द्वारा मार दिये गये थे। तभी से वे शहीद के रूप में पूजे जाते हैं। गोगाजी सांपों के देवता के रूप मे भी माने जाते हैं। सांपों से रक्षार्थ लोग उनको धोकते हैं। गोगाजी के भोपे उनकी वीरता के गीत गाते हैं। वे डैरूं बजाते है और थाली को जोर से घुमा और ऊपर उछाल कर उंगली पर रोकते हैं। कई भोपे छोटी लकड़ी से घुमाकर और १०-१२ फीट ऊपर उछाल कर उसी पर फिर रोक लेते हैं। वे समूह मे आम तौर से गाते हैं। भोपों का मुखिया जिसमे गोगा जी की शक्ति रहती है अथवा 'छाया आती है' कई सांप नाचते-गाते समय लपेटे रहता है। भादवा के महीने में कृष्ण पक्ष की नवमी को गोगामेड़ी में बहुत बड़ा मेला भरता है। इसमें हजारों आदमी गोगाजी को अपनी श्रद्धा अर्पित करने के लिये इकट्ठे होते हैं। यहां सैकड़ों की संख्या में भोपे गोगाजी की विरुदावली गाने और चमत्कारिक कौशल प्रदर्शित करने के लिये इकट्ठे होते हैं। उनके नृत्य अधिकांश में उन्मत्तावस्था में किये जाते हैं। वे कभी-कभी बेहोश भी हो जाते है। ढोल की असाधारण ध्वनि के साथ थाली और डैरूं वीरत्व का सा वातावरण बना देते हैं। इस नृत्य मे शारीरिक अङ्ग संचालन कठोर हैं और कलाशून्य रहती है। गीतों मे भक्ति झलकती है और वे बड़ी रुचि एवं गाम्भीर्य से गाये जाते हैं।

वे इष्टदेव के रूप में पूजे जाने लगे हैं। भाटों के द्वारा उनकी विरुदावली गाई जाती है। मारवाड़ के भोपों ने पाबूजी की प्रशंसा मे लम्बे लम्बे गीत बना रक्खे हैं। ये पवाड़े कहलाते हैं। ये गीत अभी पूरे लिपीबद्ध नहीं हुए हैं। इन गीतों की संख्या पचास से ऊपर है। रात भर भोपा गाता है। पर इनका अन्त नहीं होता[1]। ये भोपे उनकी विरुदावली इन गीतों द्वारा ही गाते हैं और आज तक इस वीरकाव्य को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं।

भोपे चित्रांकित परदे के सहारे से काव्य गाकर सुनाते हैं। यह चित्रांकित परदा ही फड़ कहलाता है। यह लगभग तीस फीट लम्बा और पांच फीट चौड़ा होता है। एक बांस पर यह लपेटा हुआ रक्खा जाता है। इस पर पाबूजी के जीवन चरित्र की झांकियाँ अंकित रहती हैं। ये भोपे इसे एक स्थान से दूसरे स्थान को लिये फिरते हैं। घर पर किसी के बीमार होजाने पर या ऊँट के अस्वस्थ होजाने पर अथवा किसी आदमी का बुरा असर निवारण करने के लिये पाबूजी की रहस्यमयी शक्ति मे विश्वास करने वाले आदमी फड़ बंचवाया करते हैं। फड़ सीधी फैला दी जाती है और बांध दी जाती है। भोपी पाबूजी की भिन्न-भिन्न तस्वीरों को नृत्य करते और गाते समय दिखाती है। भोपा भी नाचता है। भोपा अपने प्रिय वाद्य रावणहत्थे पर कभी साथ मे मिलकर, कभी स्वतन्त्र रूप से गाता है। प्रदर्शन से दर्शकगण बहुत अधिक प्रभावित रहते हैं। नृत्य की बनिस्पत फड़ का काव्यात्मक मूल्य अधिक है। अभिनय का भी इसमे अंश रहता है। इसका काव्य महान् है। यह स्पष्ट प्रकट करता है कि इसके रचयिता बड़े पहुँचे हुए कवि थे। यह छंद बद्ध भी रहता है।

फड़ की चित्रकारी राजपूत-शैली की है। यदि यह सुरक्षित रक्खी गई तो इसका प्रामाणिक मूल्य होगा।

इससे ही मिलती जुलती एक दूसरी फड़ भी मारवाड़ के कुछ क्षेत्रों मे प्रचलित है। यह देवजी की फड़ के नाम से जानी जाती है। देवजी सोलंकी शाखा के एक राजपूत वीर हुए थे। वे भी पाबूजी के समान ही बहादुर थे। इनके गीत इतने रुचिप्रद नही हैं जितने पाबूजी के। इसकी शैली तो वही है किन्तु इसके गीत और नृत्य इतने प्रभावशाली नहीं हैं।

ये भोपे पहले भोमियों मे से ही थे। ये अनुसूचित जाति मे थे। अब इन्होंने अपनी उस जाति का नाम हटा दिया है और अपने को सोलकी राजपूत कहलाने में अधिक गर्व लेते हैं। सारे राजस्थान भर मे कई प्रकार के भोपे फैले हुए हैं। इनके बारे मे हम आगे जिक्र करेंगे। ये नृत्य, गायन अथवा रावणहत्था और अपंग बजाते हुए अपना धंधा चलाते हैं। पाबूजी की फड़ के मुख्य संरक्षक नायक, रैबारी और भौमिया हैं। इन भोपों के पास जमीन नही है। अतएव अपनी आजीविका चलाने के लिए इनको केवल फड़-गायन पर ही निर्भर रहना पड़ता है। रुणेचा के पास कोडूमंड गांव मे एक बड़ा मेला दशहरे पर हर वर्ष भरता है। यह पाबूजी की जन्म भूमि है। यहां हजारों की संख्या मे उनके भक्त इकट्ठे होते हैं। यहां वे अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं। इस अवसर पर सैकड़ों की संख्या मे हर प्रकार के फड़ के गायक इकट्ठे होते हैं और साथ मिलकर पाबुजी महान् की विरुदावली गाते हैं।

(झ) कान गूजरी (कान्ह गूजरी)

कानगूजीरी की भी एक जाति है। वह नुकीली टोपी, एक लहराता झगा, एक चूड़ीदार पाजामा और रावणहत्था हाथ मे लिए हुए एक विचित्र दृश्य उपस्थित करता है। वह आदमी और औरत दोनों की शक्ल बनाये रहता है और पूछने पर बतलाता है कि मै राधाकृष्ण का अवतार हूं। वह जाति से गूजर होता है और घर-घर नाचता है। उसका अङ्ग-संचालन बड़ा सुषमाशाली और कलापूर्ण होता है। उसके गीत भी मुग्ध कर देने वाले हैं। राजस्थान के सभी हिस्सों मे कान-गूजरी मिलते हैं। वे अपनी भाषा मे राधा और कृष्ण के गीत गाते हैं। प्रेमसहित वे थोड़े से थोड़ा आटा दिये जाने पर ही सतुष्ट हो जाते हैं।

(ञ) रासधारियाँ

कुछ रासधारियाँ मारवाड़ मे भी निर्मित हुई हैं। इनके रचियता मारवाड़ी ही थे। इस शैली मे भाग लेने वाले मुख्य रूप से वैरागी साधु हैं किंतु दूसरों के लिए भी कोई रोकटोक नही है। रासधारी पहले सामूहिक लोक नृत्य-नाट्य था जिसमे आनन्द और उल्लास के लिए सभी भाग लेते थे किंतु बाद मे जाकर इस पर कुछ चुने हुए लोगों का एकाधिकार हो गया। उन्होंने जीविका के जरिये के रूप मे इसे अपनाया और पेशेवर कमाई के लिए अपना एक दल बना लिया।

सजा दिया जाता है। नृत्यकार दूल्हे की कीमती पोशाक पहनकर घोड़ी को कमर तक बैठा लेते हैं। डालियों को ढीली पोशाक से ढक दिया जाता है। सारी व्यवस्था इस प्रकार प्रकट होती है कि सचमुच घोड़े पर उसका मालिक सवार है। नृत्यकारों के हाथों में तलवारें होती हैं। वे ढोल और तुरही के साथ नाचते हैं। वे इस प्रकार से नृत्य करते हैं कि घुड़सवारी का दृश्य हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। ऐसे जोड़े आम तौर से चार-पांच होते हैं। यह नृत्य शादियों के अवसर पर सम्पन्न किया जाता है।

भूतकालिक परम्परा से बावरी लुटेरे रहे हैं। ये समाज को बहुत तंग करते रहते थे। इनको संभालने और एकत्रित करने मे सरकार को बहुत रुपया खर्च करना पड़ा है। ये लोग कुछ वर्षों से बस गये हैं और अन्य नागरिकों की तरह अपना जीवन बिताने लगे हैं। ये लोग खेती भी करते हैं और पहरा भी देते हैं।

(छ) मारवाड़ की कठपुतली

भारतीय शास्त्रों के अनुसार वर्तमान नाटकों की उत्पत्ति कठपुतली से हुई है। भारत की यह सबसे प्राचीन नृत्य-शैली है। एक समय यह राजपरिवार और जनसाधारण दोनों मे ही लोकप्रिय थी। आज से सौ वर्ष पूर्व कठपुतली नचाने वालों के पास कोई घर नहीं था और आजीविकार्थ ये घुमक्कड़जीवन बिताते थे। वर्तमान मनोरंजनों के बढ़ जाने से कठपुतली का नाच कम लोकप्रिय हो गया और पुतली नचानेवालों को स्थायी रूप से घर बसाने के लिए शरण ढूंढनी पड़ी। कुचामन, लूनीचा, खाखोली आदि पूर्वी रेगिस्तान के हिस्सों के स्थान इन लोगों के शरणदाता हैं। यहां के भोमिये इन कलाओं मे बड़ी रुचि लेते हैं। इसी कारण शायद इन लोगों को ये स्थान चुनने पड़े। ये कठपुतली नर्तकों के सदा के जजमान हैं और प्रतिवर्ष उन्हें उनके प्रदर्शन के लिए कुछ न कुछ देते रहते हैं।

कठपुतली नचाने वाले की ऊंगली में इस मनोरंजन की कला विद्यमान रहती है। दो खूंटियां डाल दी जाती हैं। वे एक दूसरी से करीब ६ फीट की दूरी पर रहती हैं। इन पर कलापूर्ण बेल-बूटों का काम किया हुआ परदा सीधा डाल दिया जाता है। इस परदे के पीछे एक साफ कपड़ा प्रदर्शन की पृष्ठभूमि के रूप मे बांध दिया जाता है। इस परदे

के पीछे कठपुतली वाला खड़ा हो जाता है। वह अपने हाथ में डोरियों का गुच्छा थामे रहता है जो उसकी उंगलियों से बंधा रहता है। इसीके द्वारा वह उनके संचालन पर नियन्त्रण किये रहता है। यह प्रदर्शन ज्यादातर रात को होता है। इसमे लगभग दो घंटे लग जाते हैं। कठ-पुतली वाला और उसकी स्त्री इस अभिनय के संचालक रहते हैं। जब नाटक चलता है तब उसकी स्त्री ढोलक बजाती है और कठपुतली के नृत्य की कहानी गाती रहती है। समस्त अभिनय मे एक मनोरंजक वार्तालाप चलता है। यह एक प्रकार की टिप्पणी होती है। कठपुतली नृत्य के द्वारा वे जो अमरसिंह राठौड़ की कहानी प्रस्तुत करते हैं वह बहुत ही साधारण है और इसको बचाये रखने के लिए शीघ्र परिवर्तन की आवश्यकता है। इसमे ऊंट की चाल अलबत्ता बडी सुन्दरता से दिख-लाई जाती है। ये कठपुतलियां पहले कठपुतली नचाने वालों के द्वारा ही बनाई जाती थीं किन्तु अब वे चित्तोड़गढ़ के समीप पड़ने वाले एक स्थान बसी के बढ़इयों द्वारा निर्मित की जाती हैं।

कठपुतली वाले सुदूर की यात्रा कर डालते हैं। वे आसाम और उत्तरप्रदेश की सीमा तक चले जाते हैं। अर्थ सग्रह के साथ लौटते हैं। पहले आवागमन की कठिनाइयों के कारण ये अपना भ्रमण इर्द-गिर्द के गांवों तक ही सीमित रखते थे। उस समय इनके परिवार इकट्ठे ही निकलते थे और आमदनी आपस मे बांट लेते थे। भोमियों को तो इनको प्रतिवर्ष प्रदर्शन दिखलाने ही पड़ते हैं किन्तु अन्य जातियों के लिये ये बाध्य नही हैं। इनकी आमदनी ठीक हो जाती है किन्तु शिक्षा के अभाव और अपनी खर्चीली आदतों के कारण ये लोग कुछ बचा नहीं पाते।

ये लोग अच्छे गायक भी हैं। ढोला मारू, हीर रांझा, सावलिगा सम्बंधी राजस्थानी गीतों की सबसे अच्छी परम्पराओं को उन्होंने कायम रक्खा है।

(ज) पाबूजी की फड़

मारवाड़ में पाबूजी राठौड़ एक बड़े वीर हो चुके हैं। उन्होंने वचन को निभाया था। विवाह के समय बीच मे ही उठकर इन्होंने गौओं की रक्षा की थी। उनकी रक्षा में ही ये काम आ गये। अतएव इस आदर्श चरित्र की याद अब भी लोगों के दिल और दिमाग मे बनी आ रही है।

२. पाबूजी के भोपों के सम्बन्ध मे हम पीछे लिख चुके हैं।

३. रामदेवजी के भोपे—कामड़ भी रामदेव जी के भोपे माने जाते हैं। इनका जिक्र पहले हो चुका है। कुछ लोग इन्हें भोपों की श्रेणियों मे नही शामिल करते।

४ माता जी के भोपे—माताजी (दुर्गा) के पुजारी हैं और उसकी शक्तियों में बड़ा विश्वास करते हैं। यहां के भोपे करणी माता की विरुदावली बखानते हैं। गाते समय नृत्य भी करते हैं। वे दूल्हे की सी पौशाक पहने हुए होते हैं। ये भी नृत्य करते समय चमत्कारिक प्रदर्शन करते हैं। मुख्य उनमे से हैं–जीभ को सुई से छेद डालना। कुछ अपनी पलकों को सूई से छेदते हैं। गाल (कपोल) के आर पार सूई निकाल लेते हैं। करणी माता के मेले के अवसर पर सैकड़ों भोपे इकट्ठे होते हैं।

५. भैरू जी के भक्त भोपे—ये भैरू जी के आराधक है और अपने इष्ट देव की भक्ति मे गाते और नृत्य करते हैं। साधारणतया और जानबूझ कर वे बहुत गन्दी पौशाक पहने हुए रहते हैं। भैरू, शिव और दुर्गा का गण है और इसके तेल का चढ़ावा है। इसीलिये ये भोपे अपने कपड़ों मे बहुत अधिक तेल डाले रहते हैं। अपने मुख के कालिख पोते रहते हैं और मस्तक और मुंह पर सिन्दूर लगाये रहते हैं। ये त्रिशूल धारण किये रहते है और मशक का बाजा बजाते हैं। ये नृत्य और गायन भी करते है। ये दलों मे न घूम कर अपनी आजीविका के लिए अकेले ही घूमते हैं। अपने जजमानों के पास जाते हैं।

(ड) बीकानेर की रम्मतें

बीकानेर की रम्मतों की भी अपनी विशेषताएं हैं। रचना शैली मे ये कुचामनी और शेखावाटी के ख्यालों से भिन्न हैं। १०० वर्ष पूर्व जो कवि समाज बीकानेर मे जुड़ते थे वही से उनका उद्गम है।

इनमे अधिक रुचि रखने वाले व्यक्ति ऐतिहासिक और धार्मिक चरित्रों पर काव्य-सर्जना किया करते थे। इन्हीं सर्जनाओं ने रगमंच-प्रदर्शन का रूप ले लिया। रम्मत के मुख्य लेखकों मे हैं–सर्वश्री मनीराम व्यास, तुलसीराम, फागू महाराज और सूआ महाराज। कुछ उल्लेखनीय रम्मतें ये हैं—हिडाउमेरी की रम्मत, अमरसिह की रम्मत और संगमेरी की रम्मत।

इन रम्मतों की मुख्य विशेषताएँ ये है—रम्मत शुरू होने से पहले मुख्य पात्र मचपर बैठ जाते है जिससे कि हर एक दर्शक उन्हें देख सके। उसके बाद गणपति वंदना की जाती है। तत्पश्चात् प्रसंग से सम्बन्धित पात्र मंच पर बैठते है। वार्तालाप विशिष्ट गायकों के द्वारा गाये जाते है। ये मंचपर बैठे हुए रहते है और मुख्य पात्र की टेर को टेरते रहते है। इनमें अभिनय और नृत्य का काम तो खास नहीं रहता पर गायन का काम बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। साथ करने वाले साज नक्कारा (नगाड़ा) और ढोलक हैं। वादकों को अपनी कला में बड़ा पारंगत होना पड़ता है। अन्यथा वे रम्मतों के साथ निभ नहीं सकते। रगमंच की सजावट नहीं होती। केवल उठा हुआ मंच निर्मित किया जाता है। गायन के मुख्य विषय ये हैं (१) चौमासा–इसमे वर्षा ऋतु का वर्णन रहता है (२) देवी देवताओं की श्रृङ्गार और भक्ति से सम्बन्धित लावणी (३) रम्मत के शुरु में गणपति वदना (४) रामदेवजी के भजन। रम्मतों में साहित्यिक पक्ष भी मुख्य रहता है। साथ करने वाले गायकों (टेरियों) और बाजा बजाने वालों का रम्मतों के अन्दर खास हिस्सा रहता है। अभिनेताओं की गायकी गौण रहती है। जहां ख्याल पेशेवर दलों के द्वारा जीविकार्थ विकसित हुए हैं वहां रम्मत अब भी शुद्ध सामुदायिक मनोरंजनों के रूप मे विद्यमान है। रम्मतों मे रुचि रखने वाला कोई भी व्यक्ति इनमे भाग ले सकता है। इस पर किसी जाति विशेष का एकाधिकार नहीं है। रम्मत के मुख्य खिलाड़ी हैं—सर्व श्री रामगोपाल मोहता, सई सेवक, गंगादास सेवक, सूरज करण सेवक और जीतमल। बीकानेर के गींडोजी रम्मत के अन्यतम नगाड़ा वादकों मे हैं।

ख्यालों में कथा-सूत्र शुरु से अन्त तक चलता है। कथा समाप्त हो जाने पर ख्याल भी समाप्त हो जाता है। जबकि रम्मतों के विषय भिन्न-भिन्न रहते है। उनमें एक ही विषय नहीं रहता है। ख्यालों में कथानक की भी प्रधानता होती है, रम्मतों मे नहीं। बीकानेर में अच्छी संख्या में ख्याल भी लिखे गये है।

ये रम्मतें बीकानेर और उसके पड़ौसी क्षेत्रों में प्रचलित हैं। स्थान विशेष के कारणों से इन्होंने भिन्न-भिन्न नाम और रूप ले लिये हैं। पोकरण मे ये तमाशा के नाम से जानी जाती हैं और रम्मतों से बहुत मिलती-जुलती हैं। फलौदी में भी इनको तमाशा कहते हैं।

बहुत से ऐसे स्थानीय कवि है जो ऐसे तमाशों और रम्मतों का निर्माण करते हैं। उनमे से जैसलमेर के तेज कवि और पोकरण के परमानन्द भी हैं। जैसलमेर मे निम्नलिखित रम्मते प्रचलित हैं—(१) डू गजी जुवारजी (२) पूरन भगत (३) मोरध्वज (४) हरिश्चन्द्र (५) गोपीचन्द और (६) अमरसिह राठौड़। इन रम्मतों में पात्र गण अपनी-अपनी पोशाके पहने मंच पर बैठे रहते हैं। जब उनका पार्ट आता है तब वे मच से नीचे आ जाते हैं और अपना पार्ट अदा करते हैं। पार्ट समाप्त होने पर फिर मंच पर जा बैठते हैं।

शेखावाटी और पूर्वी राजस्थान के लोकानुरजन

राजस्थान का पूर्वी भाग उत्तर प्रदेश से मिलता हुआ है। यहाँ वर्षा भी कुछ कम होती है। प्राकृतिक साधन भी उतने उपलब्ध नहीं। फिर भी लोकनृत्य यहाँ सतोषप्रद रूप मे हैं। इसका कारण ब्रज भूमि का प्रभाव भी है। इसी वजह से यहाँ रासलीला, रामलीला, नौटकी अब भी मौजूद हैं। अलवर की ओर मेवों के नृत्य मिलते हैं। शेखावाटी के भाग मे लोगों को सामुदायिक नृत्यों मे बड़ी रुचि रहती है। हमने इस इलाके का कई बार भ्रमण किया है।

(क) गींदड़ और ढफ के नृत्य

बसत-पंचमी से ही ढफ बजने शुरु हो जाते हैं और धमाले गाई जाती हैं। ये धमाले भक्तिपूर्ण भी होती है और शृंगारिक स्पर्श लिये हुए भी। ढफ पर फड़कते चलत के गीत गाये जाते हैं। उधर स्त्रियां भी होली और ढफ सम्बधी गीत गाती हैं। इस प्रकार चारों ओर गीतों की ध्वनि से स्थल गुंजित हो उठता है। ढफ के साथ भी ताल और लय बद्ध नृत्य होते है। होली के १०–१५ रोज पहले गींदड़ का सामुदायिक नृत्य प्रारम्भ हो जाता है। होलिका दहन के दो दिन पूर्व तो यह रात रात भर होता रहता है। इसमे सैकड़ों आदमी भाग लेते हैं। गीदड़ प्रारम्भ न होने के पूर्व लोग ढफ के साथ-साथ व्यक्तिगत नृत्य करते हैं। गींदड़ चाँदनी रात मे होती है। गैस की लालटेन भी जला दी जाती है। इसमे अछूत और सवर्ण सभी भाग लेते हैं। जो लोग अच्छी गीदड़ खेल सकते हैं उनका ध्यान अधिक रक्खा जाता है जिससे उसमे सुन्दरता बराबर बनी रहे। जाति-पाँति का भेद-भाव इस प्रकार के नृत्य

बहुत दूर कर देते हैं। गीदड़ का एक चक्कर समाप्त होते ही दूसरा शुरु हो जाता है और दूसरे लोगों को नृत्य का अवसर मिलता है। इसमें बालक, युवा, अधेड़, वृद्ध सभी आसानी से भाग ले सकते हैं।

गींदड़ मे परस्पर डके भिड़ाये जाते हैं। गोल के बीच मे एक मच बनता है। इस पर एक आदमी नगाड़ा बजाता है। चार मात्रा का ठेका धीमी गति से नगाड़े पर बजता है। धीरे-धीरे उसकी गति तेज होती जाती है। नगाड़े की चोट के साथ-साथ डके भिड़ाये जाते हैं और नृत्य-कार घूमते हुए नृत्य करते चलते हैं। खुली हुई चॉदनी रात मे आनद का समा बॅध जाता है। हर मोहल्ले में प्रायः गींदड़ होती है। इसमें स्वांग भर कर लोग नाचते हैं। यह दृश्य और भी मोहक हो जाता है। चक्कर के स्थान मे पानी छिड़क दिया जाता है ताकि धूल नहीं उड़े। साथ में लोक गीत भी ठेके से मेल खाते गाये जाते हैं। ये धीमी लय के गीत बड़े चित्ताकर्षक होते हैं। प्रायः हर एक नर्तक घुघरू बॉधे रहता है। दर्शकों के लिये भी बैठने का प्रवध रहता है। तख्ते, कुर्सी, पाटिये आदि डाल दिये जाते है। यह राष्ट्रीय नृत्य कहा जा सकता है और स्वान्तः-सुखाय किया जाता है। इस नृत्य का शिक्षात्मक और सामाजिक मूल्य बहुत बड़ा है। लोगों का सम्पर्क और प्रेम भी बहुत बढ़ता है। वर्ष में यह केवल होली के अवसर पर ही किया जाता है। इस दृष्टि से भी इसका मूल्य बढ़ जाता है। स्त्रियां इसमे भाग नही लेती। उनका भाग पुरुष ही लेते हैं। होली के दिनों मे बड़ी चहल-पहल होती है।

(ख) सांसियों के नृत्य

सांसी भूतपूर्व जरायम पेशा कौम है। इनके भी स्थायी रूपसे जमे हुए घर नहीं हैं। इनका मुख्य धधा चोरी, डाके, लूट मार सम्बन्धी ही रहा है। अब वे बसने शुरू हो गये हैं। उनकी आय का कोई स्थायी धधा नहीं है अतएव जो भी धंधा उनके हाथ लगता है वे कर लेते हैं। आजकल उन्होने जूते भी गांठना शुरू कर दिया है। क्योंकि चमारों ने काम छोड़ दिया है। इससे इनकी आर्थिक स्थिति सुधर रही है। सांसी मेहनत सम्बन्धी काम भी करते हैं और अधिकांश मे इनकी स्त्रियां भीख मांगती हैं। ये परिश्रम करना पसन्द नहीं करतीं। बहुत कम पैसों में ये नृत्य दिखाती हैं। इनके नृत्य अव्यवस्थित, कामुकतापूर्ण

और व्यक्तिवादी रहते हैं। इनका अंग-संचालन सुन्दर रहता है। किन्तु इनका संगीत गँवारू और भद्दा रहता है। इसके साथ ढोलक और थाली बजती है। ये बड़ी गरीबी मे रहते हैं और इनकी स्त्रियों को वेश्यावृत्ति भी अपनाना पड़ता है। इनकी स्थिति बड़ी चिंतनीय है। ये बहुत छोटी जाति मे गिने जाते हैं। ये लोग विवाह पर पैसा बरबाद करते हैं और भ्रष्ट जीवन बिताते हैं।

(ग) कंजरों के नृत्य

कंजर भी सांसियों से मिलते जुलते हैं किन्तु इनकी आर्थिक स्थिति अधिक ठीक है। इनके पारिवारिक सम्बन्ध भी अच्छे देखे गये हैं। इनमे जातीय संगठन भी है। इन लोगों को सड़क, रेल, मकानातों के निर्माण मे काम मिल जाता है। इनकी स्त्रियां घर की देखभाल करती हैं। घर में इनकी बड़ी इज्जत रहती है। कजर जाति से मुसलमान हैं। किन्तु सूरत और आदतों मे वे हिन्दू प्रतीत होते हैं। इनकी औरतें अपने आपको अनेक आभूषणों और मणियों से अलकृत किये रहती हैं। ये इतनी कीमती धातुओं के नहीं होते। गाने और नृत्य करने में वे बड़ी चतुर रहती हैं। मर्द चंग और ढोलक बजाते हैं और स्त्रियां भिन्न-भिन्न प्रकारके नृत्य करती हैं। इनमें से एक लाठियों पर नाच होता है। अधिकांश मे उनके मनोरजन स्वान्तःसुखाय होते हैं किन्तु विशेष अवसरों जैसे होली, दिवाली पर वे अपनी आजीविका के लिये भी नाचती हैं।

(घ) नायक, चमारों और मेहतरों के नाच

दिन भर के कठिन परिश्रम के बाद ये एकत्र होकर गाते हैं। गायन बड़ा सुन्दर लगता है। इसमे पहले स्त्रियां भी भाग लेती थी किन्तु समाज सुधारकों ने इनको नृत्य में भाग लेने से रोक दिया है। इनके नृत्य भी स्वान्त'सुखाय और सामूहिक रूप के होते हैं। ये स्फूर्ति और आनन्द से भरे रहते हैं। इस समय सुधारकों ने इस प्रकार के मनोरजनों को कथा और भजनों के रूप में परिवर्तित कर दिया है। इसी प्रकार के नृत्य रैगर, धानकों, बलाइयों, गुंवारियों, गोखी, डोम और थोरियों में भी प्रचलित हैं। इन सभी का उद्देश्य आत्मानंद और आत्माभिव्यक्ति रहता है। निम्न जातियों मे भक्ति साहित्य का बहुत प्रचार है। ये कबीर, गोरख, दादू, रैदास आदि का साहित्य बहुत गाते हैं। उक्त

संत भी दलित और पिछड़े वर्ग के थे और उन्होंने इन जातियों में अपने मत का प्रचार किया। इनका उद्देश्य सामाजिक समानता और भक्तिपूर्ण जीवन का रहा है। शताब्दियों पुरानी परम्परायें आज भी ये लोग जीवित रक्खे हुए हैं और उनका इनके जीवन में बड़ा शक्तिशाली हाथ है।

ये लोग सबद, पारवा, सुरता, हेली, निर्गुण, भजन आदि भक्ति सम्बन्धी तथा शान्तरस सम्बन्धी साहित्य गाते हैं। इनकी गायन धुनें भिन्न-भिन्न हैं और शान्त रात में बड़ी मनमोहक लगती हैं। इनमे मीरां, नानक तथा अन्य सतों की वाणी भी गाई जाती है।

गोगानवमी पर चमार कुछ दिन पूर्व से ही शहर में गाते-बजाते निकलते रहते हैं। ये अपने जजमानों, सवर्णों से बंधे नियम के अनुसार कुछ लेते हैं। गोगानवमी के मुख्य दिन जब गोगा की मेड़ीयों पर मेला भरता है तब दोपहर से ही ये मेले के लिये गाते-बजाते निकल पड़ते हैं। एक आदमी ऊंचा नेजा हाथ में लिये रहता है। कासी का कचोला (कटोरा) बजाया जाता है। डेरूं बजाते हैं। एक दो आदमी बिलाई (आंकुड़े युक्त लोहे की बनी वस्तु) उछाल-उछाल कर अपने सिर और पीठ पर मारते हैं। कुछ जख्मी भी हो जाते हैं। कुछ नाचते-नाचते बेहोश भी हो जाते हैं।

(ङ) ताजिया

लगभग समस्त राजस्थान में मोहर्रम के दिन मुसलमान लोग बड़ी धूम-धाम से ताजिया निकालते हैं। ये ताशे और ढोल बड़े फड़कते बजाते हैं। बजाते-बजाते अचेत भी हो जाते हैं। तलवार, डांड, पट्टे आदि के प्रदर्शन भी किये जाते हैं।

(च) कच्छी घोड़ी

यहां की कच्छी घोड़ियों में ढोल और ताशा बजता है। बड़ा सुन्दर और उत्तेजक दृश्य रहता है। वाद्य के साथ कहीं कहीं तलवारों, डांडों और पट्टों के हाथ भी दिखलाये जाते हैं। डांड के कौशल नृत्य करते-करते ही दिखलाये जाते हैं, जो देखने की ही वस्तु है। बाजे के साथ-साथ शारीरिक परिश्रम में आनन्द का अनुभव होता रहता है। व्यायाम भी हो जाता है। थकान महसूस नहीं होती। कच्छी घोड़ी

वाले एक चक्कर में नाचते हैं। इनकी मुद्रायें भी दर्शनीय होती हैं। यह युद्ध नृत्य है। सवार और पैदल अपने हाथों मे ढाल और तलवार लिये रहते हैं। एक दूसरे पर वार करता है और ढाल पर तलवार का वार रोका जाता है। कच्छी घोड़ी नाचने वाले शेखावाटी में गनेड़ी, नेछवा (सीकर के पास) और रामगढ़ (सीकर) मे है। ये नर्तक विवाह के अवसर पर नाच दिखाते है।

(छ) भंगियों का नाच

ढुलंडी के दिन मेहतर दूकान-दूकान अपने गायन और नाच का प्रदर्शन करते हैं। इनके गाने और नृत्य चलत के होते हैं। इसके लिये इन्हें हरेक दूकान से एक-दो पैसा मिल जाता है। किन्तु सुधारवादियों ने इस मांगने की प्रथा को रोक दिया है। फलस्वरूप यह मनोरजन भी धीरे-धीरे समाप्तप्राय: हो रहा है। इन लोगों मे शराब का चसका पड़ गया है अतएव पैसे का दुरुपयोग हो जाता है। ये ढोलक और मजीरों के साथ नाचते हैं।

(ज) चौक-च्यानणी

गणेश चतुर्थी को यह बाल-त्यौहार मनाया जाता है। आज से १५-२० वर्ष पहले इस त्यौहार से एक महीने पूर्व ही बड़ी बड़ी उम्र वाले चेहरे बनाते थे किन्तु आजकल केवल बालक ही चेहरे या स्वांग भरते हैं। ये स्वांग राक्षस, राजा, हनुमानजी, नाहर, नाहरी, शिवजी, डाइन, गणेशजी, बदर आदि के भरे जाते हैं। पहले तो किसी किसी गांव में भिन्न-भिन्न स्वांग सैंकड़ों की सख्या में भरे जाते थे किन्तु आजकल १०-१५ ही रहते हैं और वे भी चतुर्थी के दो-चार दिन पूर्व ही। इनको गुरुओं की चटशालाओं मे ही निकाला जाता है जहां अधिकतर महाजनी विषय की पढ़ाई होती है और पुराने जमाने से वे पाठशालाये चली आ रही होती हैं। ये गुरु लोग पहले महीने मे दो-एक बार सीधा (आटा) ग्यारस आदि को मगवाते थे और विद्यार्थियों को निशुल्क पढ़ाया करते थे। चतुर्थी के त्यौहार पर ये विद्यार्थियों के घर आनंद-उत्सव के साथ जाते थे और दक्षिणा मे नारियल अथवा एक रुपया पाते थे। आज भी यह घर-घर जाना तो होता है और दक्षिणा भी ली जाती है किन्तु आर्थिक सकट के कारण विद्यार्थियों से लगभग एक रुपया प्रति

मास शुल्क लिया जाता है। बालक के घर एक दूसरे के तिलक किया जाता है। धनवान लोग आगत बच्चों को लड्डू भी बांटते हैं और गुरुजी को ११) अथवा २१) तक भी दे देते हैं। ये स्वांग सयत एव लयबद्ध कदमों से उछलते-कूदते चलते हैं। अपने हथियारों को घुमाते है और बालकों से कभी कभी छेड़ छाड़ करते रहते हैं। स्वांग का सम्मान भी किया जाता है और उसे अपने पर गर्व भी होता है। ऐसे गीत भी गाये जाते है—

(१)

गौरी पुत्र गणेश मनाऊ,
साल गिरह गणपत का गाऊ।
भादू सुदी चोथ बुधवार,
जन्म लिया गणपत दातार।

(२)

सुरसत माता तुझे मनाता,
दे विद्या तेरा गुण गाता।

चौक-च्यानणी मे गाया जाने वाला साहित्य भी किंचित तादाद मे है। इसकी भी रक्षा होनी चाहिए। यह कुछ छप भी चुका है। यह साहित्य आत्मीयता लाने के साथ-साथ सस्कृति भी उपस्थित करता है। बच्चों का राजस्थान मे यही एक त्यौहार दिखलाई पड़ता है। वे नये वस्त्रों मे शामिल होते हैं। उनके हाथों मे डके रहते हैं जो वे एक दूसरे से भिड़ाते भी हैं। उनके बटुये मे कुछ मेवे भी रहते हैं। चतुर्थी से दो दिन पूर्व द्वितीया को बच्चों का सिधारा (शृंगार) होता है। सब घरों में इस दिन मिष्टान्न बनता है। जुलूस प्रतिदिन सुबह और शाम को निकलता है। चतुर्थी के दिन गुरुजी की सवारी निकलती है। यह सवारी स्थानीय राजा के यहां जाती है, जहां से उनको ११) या २१) अथवा ५१) की यथा शक्ति भेट मिलती है। शाम को पाठशालाओं मे लौटकर अपने-अपने घर बालकगण चले जाते हैं। उत्सव समाप्त हो जाता है।

(भ) मंदिरों के कीर्तन और नृत्य

समय-समय पर धार्मिक जुलूस निकलते रहते हैं। ये लोग ढोलक, मजीरे बजाते और साथ मे नृत्य करते जाते हैं। मदिरों

में ग्यारस, शनिवार, मंगलवार को रात्रि जागरण होता है। इसमें नृत्य और भजन होते हैं। किन्तु ये भी धीरे-धीरे कम होते जा रहे है।

(ञ) भांडों के मनोरंजन

राजस्थान मे भांड जाति भी अभिनय के द्वारा लोगों का मनोरजन करती रहती है। ये भांड कई स्थानों पर तो स्थायी रूप से बसे हुए हैं और कई स्थानों पर जहां कोई भांड बसा हुआ नहीं है, वहां वे जाकर लोगों का मनोरजन करते हैं। भांड के पीछे बच्चे पड़े ही रहते हैं। या तो ये प्रतिदिन कुछ ले लेते हैं अथवा महीने मे अथवा सब प्रदर्शनों का एक साथ ले लेते हैं। ये कई प्रकार के स्वांग भरते हैं और अच्छे पढ़े लिखों को भी धोखा दे देते हैं। राजा लोग अपने मनोरजन के लिये पहले इसीलिये अपने यहां इन्हें बसाया करते थे। इनके स्वांगों में मुख्य रानी, बदर, डाकण (डायन), सेठ, मुनीम, आदि हैं। इनके स्वांग हूबहू रहते हैं। आजकल इनकी आर्थिक स्थिति भी बड़ी चितनीय हो गई है। इस व्यस्त और भागदौड़ के जीवन मे भाडों के लिये आजीविका का प्रश्न बड़ा जटिल हो गया है।

(ट) रासधारी

रासधारी जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है 'नृत्य-नाट्य की' विशेष शैली है। इसमें अधिकतर धार्मिक लोक नायकों या पौराणिक देवताओं का चित्रण होता है। इनमें गांव और शहर के लोग भाग लेते हैं। सभी कथानकों मे लगभग एक ही पोशाक पहनी जाती है तथा गायन मे नृत्य और सवाद होते हैं। गीतों की ध्वनि बड़ी मनोरम होती है तथा भाव-भगियों मे विविधता है। रासधारी मे बहुधा राम और कृष्ण के चरित्र अकित किये जाते है। इस नाट्य के गीत लोक कवियों द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व के रचे होते हैं जो परम्परा से मौखिक रूप मे चले आते हैं। पूर्वी राजस्थान में इसका प्रचलन अधिक है।

(ठ) टूंटियो

विवाह के अवसर पर जब वर की बरात चली जाती है तो पीछे से वर के घर की स्त्रियां नृत्य और अभिनय करती है। बहुत मनोविनोद होता है। अभिनय में वार्तालाप भी होता है। नृत्य व्यक्तिगत ही होते हैं किन्तु मात्र मनोरंजन ही इनका उद्देश्य होता है। कुछ भद्दापन

भी देखा जाता है जो क्षम्य है क्योंकि पर्दा प्रथा वाले इस प्रान्त में स्त्रियों को मनोरजन एव मनोविनोद का अवसर ही कब मिलता है ? यह मनोरजन भी धीरे-धीरे फीका होता जा रहा है और उतना उत्साह दिखलाई नही पड़ता । आर्थिक सकट इसका मुख्य कारण रहा है । अलवर की ओर स्त्रियां इस अवसर पर जी भरकर नृत्य करती हैं ।

(ड) काळवेलिये

इनका पीछे कुछ वर्णन हम कर आये हैं। यहां ये एक स्थानसे दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं। सांपों का प्रदर्शन करते है। पूंगी बजाकर भी लोगो का मनोरजन करते हैं। खजरी बजाते है और नृत्य और अभिनय कर विशेषकर गांव के लोगों को रिझाते है। ये कलात्मक वस्तुओं से अपने को सजाये रखते हैं। ये कुछ जड़ी-बूटी और अनोखे पत्थर भी अपने पास रखते हैं और उससे भी पैसा कमाते हैं।

(ट) शेखावाटी के ख्याल

शेखावाटी की भूमि ख्यालों की दृष्टि से अपना महत्त्व रखती है। यहां पेशेवर ख्याल के रचयिता और खिलाडी भी रहे हैं और शौकिया भी। ख्याल रचयिताओं में यहां सर्व श्री नानूराणा, वजीरा (उजीरा) तेली, भालीराम निर्मल, प्रेमसुख भोजक, प्रह्लादीराम पुरोहित आदि हो चुके हैं। नानू का जन्म स० १६१५ के लगभग और मृत्यु स० १६६५ के लगभग है। उसकी अपनी पार्टी थी जो स्थान स्थान पर प्रदर्शन करती थी। शेखावाटी में ख्यालों का उन्नायक नानू ही कहा जायगा। जाति के मिरासी (मुसलमान) थे, नगाड़ा बजाने के कारण राणा कहलाये। उन्होंने हिन्दू शास्त्रों, संस्कृति और राजस्थान की ऐतिहासिक लोक प्रचलित वार्ताओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अपने ख्यालों में उन्होंने इनका बहुत प्रयोग किया है। उन्होंने २५ से ऊपर ख्याल लिखे थे। उनमे से प्रसिद्ध हैं (१) विराट पर्व (२) पूरण भगत (३) हीर रांझा (४) ढोला मरवण (५) जगदेव कंकाली (६) चकवा बैण आदि। नानू मे गुरु के प्रति बड़ी आस्था एवं श्रद्धा मिलती है। उन्होंने जगह जगह अपने गुरुओं का अपने ख्यालों मे उल्लेख कर उनको भी अमर कर दिया है—

"मुजकूं मिल्या गुरू हरिदत्तजी, गुण देवा पडित ग्यानी,
दास जान के ग्यान दिया, जद आई पिंगल वानी।

घनश्यामदास स्योबक्सराम के, चरना में सुरती ठानी,
गोमद्राम की कहा कहूँ, शोभा सारे जग जानी" ।।

(चकत्रा बैण)

उजीरा ने भी लगभग १५ की सख्या में ख्याल लिखे हैं। उसने भी बड़ा नाम पाया है। माधवानल कामकदला, पन्ना वीरमदे, मालदे, हाडी रानी, सुलतान निहालदे, नरसीजी, राजा हरिश्चन्द्र, वज्रमुकुट, पद्मावती आदि उसके ख्याल हैं। इन सभी रचयिताओं ने गुरू के प्रति अपनी कृतज्ञता अपने ख्यालों मे व्यक्त की है।

साधारणतया तख्ते डाल दिये जाते हैं। उन पर दरी डालकर बिछायत कर दी जाती है। जहां सुविधा होती है वहां चदो आतान दिया जाता है जिससे गायकों की आवाज मे समावट हो जाय। गैस की लालटेन टांग दी जाती है। इनके स्थान पर पुराने जमाने में शायद मशालों से काम लिया जाता था। गायकों की आवाज रात मे तीन-चार कोस तक चली जाती है। खिलाड़ियों के गले और पैरों को बड़ी ताकत आती है क्योंकि उन्हें उछलकूद और कसरतमय नृत्य करना पड़ता है। स्त्री पात्र पुरुषों के ही द्वारा किये जाते हैं। निर्धन दलों के पास पोशाकों का भी अभाव रहता है। इन पोशाको का प्रबध गांव के लोग जहां ख्याल होता है वे भी करते हैं। पोशाके पात्रों से उतना मेल नही खाती जितना खाना चाहिए। मंच की सजावट सुविधानुसार साधारण रहती है।

इन संगीत नाटकों मे स्वर और ताल का ज्ञान बहुत आवश्यक रहता है। राग-रागिनियों की जानकारी बड़ी जरूरी है। वाद्यो मे हारमोनियम, सारगी, नगाड़ा, ढोलक का प्रयोग होता है। सारगी और नगाड़े की ध्वनि का प्राधान्य दिखलाई पड़ता है। ख्यालों के रचयिता अपनी कला में बड़े चतुर होते हैं। शेखावाटी मे इस समय दो दल हैं—एक नानू के घर से दूलिया का, दूसरा जाखल, नवलगढ़ के पास भैरूँ राणा का। भैरूँ हिन्दू है। नानू चिड़ावा के थे। आज भी उसके वशज वही रहते हैं। इन दोनो दलों के नेताओं ने ख्याल रचना की परम्परा निभाई है। ख्याल सर्जन की परम्परा मर चुकी है। इसमे नये कथानक और चरित्रों का समावेश करना चाहिए। इसमे प्रयुक्त होने वाले छद हैं–कवित्त, सवैया, दूहा, दोहा, चौबोला, दुबोला, लावणी, छप्पय, चौपाई, झूलना, आदि।

ये सभी छंद गाये जाते हैं। इस प्रकार इन नाट्यों मे संगीत की प्रधानता है। मुख्य पात्र का काम इन ख्यालों मे अधिक रहता है। पात्र के द्वारा गाये जाने पर टेक को टेरिये दुहराते हैं और उस समय वह नृत्य करता है। ख्यालों से जनता का बहुत देर तक मनोरंजन हो जाता है। ख्याल रात को दस बजे करीब शुरु होते हैं और प्रात: काल ६-७ बजे तक चलते हैं। समयानुसार राग-रागिनियों मे परिवर्तन होता रहता है। आसावरी, वागेश्वरी, देस, सोरठ, जोगिया भैरवी आदि राग-रागिनियों का प्रयोग समयानुसार इन मे देखा जाता है।

कुचामणी और शेखावाटी के ख्यालों की तुलना

१. कुचामणी ख्याल आधुनिक है, शेखावाटी के पुराने हैं।

२. गायन, काव्य-सर्जना, नृत्य, पोशाक, मचसजावट आदि की दृष्टि से कुचामणी ख्यालों की प्रवृत्तियाँ आधुनिक हैं। जबकि शेखावाटी के ख्याल काव्य, सगीत और अभिनय की दृष्टि से अपनी स्वय की मौलिकता रखते हैं।

---

[२]

राजस्थानी लोक गीतों में श्री कृष्ण-लीला

लेखक श्री मनोहर शर्मा एम ए, साहित्यरत्न

[राजस्थानी लोक-गीतो मे कोई महत्त्वपूर्ण विषय अछूता नही छोडा गया है। राजस्थानी गीत साहित्य एक सागर के रूप मे है जिसमे अवगाहन करने पर नाना प्रकार के रत्नो की प्राप्ति होती है। विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत निबन्ध मे कृष्ण-लीला सबधी राजस्थानी लोक गीत विषय पर अध्ययन पूर्ण उल्लेखन किया है। —प्रबन्ध सम्पादक]

लोक-साहित्य मे जनता की आत्मा बोलती है। अतः लोक-साहित्य मे जो सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसे भी कई सौभाग्यशाली रससिद्ध कवि होते हैं जिनकी वाणी लोक-हृदय पर अधिकार कर लेती है। संसार मे ऐसे कवि ही अमर-कीर्ति के भागी बनते हैं और उन्ही का कवि-जीवन सफल होता है। परन्तु ऐसे भी अगणित कवि होते हैं जिनकी रचनाएँ लोक-साहित्य रूपी गंगा मे मिलकर एकाकार बन जाती है और उनके नाम-धाम का किसी को भी पता नहीं रहता। यह कथन सत्य है कि लोक-साहित्य का निर्माण लोक-हृदय से होता है। जो अज्ञातनामा साहित्य का निर्माण करते हैं, असल मे उनकी वाणी मे लोक-हृदय के स्वर होते हैं। समय पाकर लोक साहित्य की विविध रचनाओं मे रूपान्तर भी काफी होता है। इस प्रकार लोक-साहित्य साण पर चढ़े हुए हीरे का रूप धारण करता है और यही कारण है कि उसका प्रकाश मंद नहीं पड़ता।

लोक-साहित्य के सभी अगों में लोक-गीतों को प्रमुखता मिलती है क्योंकि उनमे शब्दों के साथ स्वर भी होते हैं। लोक-गीतों के भी अनेकों भेद-प्रभेद हैं। इनकी रस-धारा कई रूपों मे बहती है। जन-समाज के अलग-अलग वर्ग भिन्न भिन्न रूपों मे अपने गीत गाते हैं। राजस्थानी लोक-गीतों मे ही पुरुषों के लोक-गीत अलग हैं और स्त्रियों के अलग। इसी प्रकार किसानों के गीत दूसरे हैं और सन्तों के दूसरे।

यहां तक कि बालक तथा बालिकाओं के गीत भी भिन्न-२ हैं। सावण में दूसरे ही गीत गाए जाते हैं और फागुन मे दूसरे ही। लोक-गीतों के इन भेद-प्रभेदों पर पूरा प्रकाश डालने के लिए काफी स्थान की आवश्यकता है। प्रस्तुत निबन्ध मे केवल उन्हीं लोक-गीतों पर विचार किया जाएगा जो राजस्थान के महिला जगत मे गाए जाते हैं और जिनका सबंध श्रीकृष्ण की लीलाओं से है। ऐसे गीतों की संख्या भी बहुत बड़ी है और उनमे अपनी कुछ निजी विशेषताएँ भी हैं। असल में इनका वास्तविक रस तो वही व्यक्ति पा सकता है जो भक्ति मे विह्वल होकर इन्हें गाता है। फिर भी साहित्य-प्रेमियों के लिए यह रस दुर्लभ नहीं है।

राजस्थान में ऐसे लोक-गीतों को हरजस कहा जाता है। हरजसों में राम और कृष्ण दोनों ही भगवान हैं। एक ही गीत मे दोनों नाम अर्थात् राम और श्याम सुनाई पड़ सकते हैं। राजस्थानी महिलाएँ प्रातःकाल उठकर हरजस गाती हैं। वे सांझ पड़े भी हरजस गाती हैं। व्रत, यात्रा, अथवा पर्व के समय भी वे हरजस गाती हैं। चक्की पर आटा पीसते समय और चर्खे पर सूत कातते समय भी वे हरजस गाती हैं। ये हरजस उनकी आत्मा को बल देते हैं और जीवन को सरस बनाए रखते हैं। ये हरजस राजस्थान के नगरों तथा गांवों में समान रूप से गाए जाते हैं। अवश्य ही स्थान-भेद के अनुसार इनमे पाठ-भेद भी काफी रहता है और लोकसाहित्य मे ऐसा होना स्वाभाविक है। फिर भी लोक-भाषा की यह अनमोल निधि हर प्रकार से रक्षणीय है।

भारतीय कवियों ने श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का बड़े चाव से गान किया है। कई कवियों ने तो इस विषय को बड़ा विस्तार दिया है। परन्तु कविगीतों के समान ही लोकगीतों में भी यह विषय बड़े ही मधुर रूप मे प्रस्तुत है। भगवान की बाल चेष्टाओं के गीत गाकर भक्त लोग मुग्ध होजाते हैं। यहां उदाहरण के लिए कृष्ण के कलेवे का गीत प्रस्तुत किया जाता है। इस गीत को राजस्थानी महिलाएं प्रातःकाल बड़े ही चाव के साथ गातीं हैं।

दही को सबड़को कान्है नै भावै ॥टेक॥

मात जसोदा कान्हो जगायो, तो झगड़ो ही करतो उठ्यो ओ कान्हो।
ले ले रै कान्हा माखन रोटी, तो करले रै कान्हा कॅवर कलेवो।

नहीं ल्यूं री माता माखनरोटी, तो मन म्हारो महिड़ै मे लाग्यो ए माता।
ले ले रै कान्हा गिरी ए छुंहारी, तो लडुवां से गोद भराओ लालजी।
नहीं ल्यूं री माता गिरी ए छुंहारी, तो मन म्हारो महिड़ै मे लाग्यो ए माता।
ले ले रै कान्हा लट्टू फिरकी, तो चकरी में डोर घलाओ लालजी।
नहीं ल्यूं री माता लट्टू फिरकी, तो मन म्हारो महिड़ै मे लाग्यो ए माता।
मात जसोदा ने भूंझळ आई, तो ऊखळ के हाथ बंधाया मेरी माता।
ऊखळ बंध्यो कान्हो रोवै, तो कान्है ने कूण छुडावै मेरी माता।
बाहर सें बाबो नंदजी भी आया, तो कान्है ने कूण रूसायो नदराणी।
थारो जी कान्हो भोत हठीलो, तो हार तोड़ मोती मांगै नंद राजा।
ऊखळ से नदजी कान्है ने खोल्यो, तो लेकर कठ लगायो मेरा लाला।
हाथ मे कचोळो खवै पर कान्हो, तो मही मही करतो डोलै नद राजा।
गड गोकल से गऊ ए मगाई, तो रतन कचोळै मे दूही नंद राजा।
भावै सोई थें खावो मेरा कान्हा, तो बाकी कोर लुटाओ मेरा लाला।
जे कोई कान्है को गावै रै कलेवो, तो जलम मरण छुट जावै ओ कान्हा।

इस गीत में श्रीकृष्ण का बालहठ, यशोदा की झुंझलाहट तथा नंदजी का वात्सल्य देखने लायक है। श्रीकृष्ण जागते ही दही खाने की जिद करते हैं। माता यशोदा नाना प्रकार के प्रलोभन देती है परन्तु हठी बालक मानता ही नहीं। उसे क्रोध आता है और वह श्रीकृष्ण को ऊखल से बांध देती है। नंदजी बाहर से आकर अपने लाड़ले लाल को छुड़ाते हैं। श्रीकृष्ण के लिए नई गाय आती है। यह हरजस बड़ा पुण्यमय माना गया है।

श्रीकृष्ण कुछ बड़े उठकर वन मे गाय चराने के लिए जाते हैं। वन में अपने साथी गोपालों के साथ नाना प्रकार के खेल करते हैं। गोचारण सम्बन्धी लीलाओं से हमारे ग्रन्थ भरे पड़े हैं। इसी प्रकार लोकगीतों में भी इन लीलाओं का कम वर्णन नहीं है। यहां नागलीला सम्बन्धी राजस्थानी लोकगीत उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

हां रै भाई जल जमना कै बीच, दड़ियां देई तो बगाय ॥ टेक ॥
मात जसोदा कान्ह जगावै, उठो मेरा लाल जी।
दूध दही को करो कलेवो, गवां नै होय अंवार ॥ दड़ियां ॥
कान्हो तो उठ मुरली बजाई, ग्वाल बाल गया आय जी।
ग्याल बाल सब भेला होकर, पूग्या वन कै मांय ॥ दड़ियां ॥

ग्वाल बाल सब बन मै जाकर, मांड्यो गैद को खेल जी।
कान्हो तो जद टोरो मारयो, गैद पड़ी जल मांय ॥ दड़ियां ॥
ग्वाल बाल सब ठाडा रहियो, मै ल्याऊँगा काड जी।
कान्हो बैठ कद्म की डालो, कूद्यो जल कै मांय ॥ दड़ियां ॥
ग्वाल बाल सब भेळा होकर, आया नद कै द्वार जी।
तेरो कान्हो जल मै कूद्यो, सुण कान्है की माय ॥ दड़ियां ॥
रोवत कूकत माता आई, पूंची जमना तीर जी।
दूध दही को पड्यो कलेवो, कान्हा बिना कुण खाय ॥ दड़ियां ॥
नाग नाथ हर बाहर आया, ग्वाल बाल हरखाय जी।
मात जसोदा लेवै वारणा, नेतो दियो बॅटाय ॥ दड़ियां ॥

इस गीत मे बच्चों के गेंद के खेल का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण है। साथ ग्वाल बालों की घबराहट और माता की पीड़ा भी बड़ी ही मार्मिक है। गीत का अत आनन्द के साथ होता है। इतना जरूर है कि यह गीत छोटा है और थोड़े से स्थान पर ही कई प्रसगों का जिक्र किया गया है। परन्तु राजस्थानी महिला समाज मे नागलीला सम्बन्धी और भी अनेकों हरजस प्रचलित हैं। उनमे यह हरजस अपनी धुन के लिए निराला है।

भारतीय कवियों ने राधामाधव के प्रेम-रस की अमृतधारा बहाई है। लोकगीतों मे भी यह रसधारा कम वेगवती नहीं है। जब श्रीकृष्ण प्रेमी होते है तो उनके प्रेम के गीत भी स्वाभाविक ही हैं। लोकगीतों की दुनियां में इस तत्त्व का मर्म पहिचान कर बड़े ही सरस एवं सरल उद्‌गार प्रगट किए गए हैं। यहाँ राधाकृष्ण के पारस्परिक विनोद का एक सुन्दर लोकगीत प्रस्तुत किया जाता है। इस गीत मे श्रीकृष्ण एक साधारण गोपाल के रूप में चित्रित किए गए हैं। गीत की स्वाभाविकता आश्चर्यजनक है। एक दिन श्रीकृष्ण गाय चराकर सांझ को घर लौटते हैं। राधा रानी उनके लिए पानी की झारी लाती है। फिर विनोद होता है। यह विनोद भरा गीत भक्तों के लिए बड़ा ही आह्लाद प्रदान करने वाला है। गीत इस प्रकार है—

सांझ पड़ी दिन आथण लाग्यो,
तो गायां रा गुवाला घर आया, हो राम।
आय जादूराय गोखां भी बैठ्या,

तो ल्यावो २ राधाराणी भारी, हो राम ॥
जाय महल में राधा तिलक सुंवार्‍या,
तो बाल बाल मोती पोया, हो राम ।
जाय महल मे राधा तिलक सुंवार्‍या,
तो कोयां काजल सारयो, हो राम ॥
जाय महल में राधा तिलक सुंवारया,
तो माथै बिंदली चेपी, हो राम ।
ओढ पाटम्बर राधा बाहर आई,
तो या ल्यो या ल्यो जादूराय भारी, हो राम ॥
म्हे तो म्हारी राधा राणी गायां रा गुवाल्या,
थे क्यां पर कर्‍यो सिणगारो, हो राम ।
जाय महल मे राधा तिलक उतारया,
तो बाल बाल मोती काड्या, हो राम ॥
जाय महल में राधा काजळ पूंछयो,
तो माथै री बिंदली उतारी, हो राम ।
ओढ गुदड़ियो राधा बाहर आई,
तो या ल्यो या ल्यो जादूराय भारी, हो राम ॥
म्हे तो म्हारी राधा प्यारी हॉसी ए करै था,
तो क्यां पर रीस उतारी, हो राम ।
इसड़ी तो हांसी प्रभु फेर मत करियो,
तो हांसी मे होय ज्याय खांसी, हो राम ॥
लिख चीठी राधा बाबल घर भेजी,
तो गायां रो गुवाल्यो वर हेरयो, हो राम ।
जलम हमारो ए राधा करम तिहारो,
तो सिरी ए किसन वर हेरयो, हो राम ॥

इस गीत के अनुसार श्रीकृष्ण ने काफी बड़े होने पर भी अपना गो चारण नहीं छोड़ा। गीत में श्रीकृष्ण साधारण गाय चराने वाले हैं और राधा जी है राजरानी। भक्त ने अपने भगवान को भी अपने ही समान बना लिया है। इस गीत मे वे एक गृहस्थ हैं और गोपालन उनका धन्धा है। वे राजस्थानी समाज से दूर की वस्तु मालूम नहीं होते।

प्रेम के साथ ही मान भी होता है एक गीत के अनुसार भगवान फूलमाला लाते हैं और अपनी अन्य रानियों को तो दे देते हैं परन्तु राधा जी को देना भूल जाते हैं। इस पर राधा जी मान करती हैं तो श्रीकृष्ण चले जाते हैं। आखिर राधा उनके पीछे जाकर उन्हें लौटा लाती है। पूरा गीत इस प्रकार है—

हरजी ओ ल्याया झोळी भर फूल,
माळा पोई पौय की ओ भगवान।
हरजी ओ दीनी है सब सखी बांट,
राधा रो मंदर भूलिया ओ भगवान॥
राधा ए खोलो ना सजड़ किवाड़,
सांकळ खोलो प्रेम की, ए राधा नार।
हरजी ओ कूँळां हाथ न लाय,
मांड्या माडण भूजणै, ओ भगवान॥
हरजी ओ आंगण पांव न मेल,
लीप्यो ढोल्यो आगणो, ओ भगवान।
राधा ए मेह अँधेरी जी रात,
बाहर डरपां एकला, ए राधा नार॥
हरजी ओ सैंस गोप्यां थारै साथ,
क्यांनै डरपो एकला, ओ भगवान।
राधा ए ल्यावो म्हारो लोटो डोर,
दुवारका नै जायस्यां, ए राधा नार॥
हरजी ओ सैंस गोप्यां थारै साथ,
भलाई जावो दुवारका, ओ भगवान।
राधा ए हरजी तो रूस्या जाय,
मनायबा नै जाय, ए राधा नार॥
राधा ए ले दिवलो और बाती,
किम्न ढूंढण नीसरी, ए राधा नार।
राधा ए बूजी है कूवै की पणिहार,
किसन जातां देखिया, ए मेरी भाण॥
राधा ए म्हे नहीं जाणां म्हारी भाण,
किसड़ै हुणियार है, ए राधा नार।

बाई ए सैस गोप्यां वां रै साथ,
पीताम्बर धोतियां, ए मेरी भाए ।।
राधा ए देख्यो है थारो श्याम,
आप उतरया बड़ तलै, ए राधा नार ।
राधा ए बूज्यो है गायां रो गुवाल,
किसन जातां देखियो, रै मेरा बीर ।।
राधा ए म्हे नहीं जाणां म्हारी भाए,
किसड़ै हुणियार है, ए राधा भाए ।
बीरा ओ सैंस गोपी वां रै साथ,
पीताम्बर धोतियां रै मेरा बीर ।।
राधा ए सैस गोप्यां रै साथ,
बिरज बड़ता देखियो, ए राधा भाए ।
राधा ए पकड़ी है घोड़े की लगाम,
बावै हाथ को पूचियो, ओ भगवान ।।
राधा ए एक चणो दोय दाल,
दल्यां पाछै ना जुड़ै, ए राधा नार ।
राधा ए एक दही दूजो दूध,
फाट्यां जावण ना लगै, ए राधा नार ।।
राधा ए डब डब भर लिया नैण,
आंसू तो ढाल्या मोर ज्यूँ, ए राधा नार ।
हरजी ओ लीनी छै हिवड़ै लगाय,
आंसू तो पूछया पेच सूँ, ओ भगवान ।

इस गीत मे राधा मान करके भी हार मानती है । श्रीकृष्ण उसे मनाते नहीं, बल्कि वे चले जाते है । आगे जाकर राधा आंसू गिराती है, तो श्रीकृष्ण उसे मान देते है । यह अबला जीवन का चित्र है । गीत में बड़ी ही सरलता एव स्वाभाविकता है । राधा की मार्ग के लोगों से पूछ-ताछ भी बड़ी ही सुन्दर है ।

श्रीकृष्ण लीला के राजस्थानी लोकगीतों मे कुबजा का प्रेमप्रसग भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है । इन गीतों में कुबजा श्रीकृष्ण भगवान की रानी है । वह उनकी अन्य रानियों के समान ही रहती है । कई गीतों में उसका द्वारिका में रहना दिखाया जाता है । भक्त हृदयों ने इस विषय में

एक नई ही दुनियां रच ली है। एक राजस्थानी लोकगीत मे कुबजा पत्र लिखकर श्रीकृष्ण को बुलाती है परन्तु राधा उन्हें रोक रखना चाहती है। गीत इस प्रकार है—

परभाते बोल्यो कूकड़ो जी भगवान॥ टेक॥
कुबजा कागज भेजियो जी भगवान,
जी परभू आवो मारै देश,
मिलण की लग रही जी भगवान।
हरजी कागज बाचियो जी भगवान,
कुबजा आवां म्हे ढलती सी रात,
थारै महलां आयस्यां ए कुबजा नार।
हरजी मुरगै यूं कही जी भगवान,
जी मुरगा बोलो थे आधी रात,
कुबजा रै महलां चालस्यां जी भगवान।
आधी कै बोल्यो कूकड़ो जी भगवान,
जी परभू सूत्या हरजी जगाय,
आधी कै बोल्यो कूकड़ो जी भगवान।
मै कूकड़ा तनै मारस्यूं जी भगवान,
रै कूकड़ा क्यूं बोल्यो मांझल रात,
आधी कै बोल्यो कूकड़ो जी भगवान।
थे राधा क्यूं मारस्यो ए राधा नार,
जी राधा परभू कह्यो म्हानै बोल,
ढळती का म्हे तो बोलिया जी राधा नार।
लोटो लियो धोती लेई जी भगवान,
ए राधा करस्यां गगा रो असनान,
सवारै बोल्यो कूकड़ो ए राधा नार।
गगा जागी ना जमना जागी जी भगवान,
जी परभू नही जाग्यो नदियां रो नीर।
आधी कै बोल्यो कूकड़ो जी भगवान।
मात जसोदा जागी नही जी भगवान,
जी परभू नही खुडक्यो महिडां रो माट,
आधी कै बोल्यो कूकड़ो जी भगवान।

म्हे थानै जाए न देयस्यां जी भगवान,
जी परभू बीती नहीं आधी रात,
आधी कै बोल्यो कूकड़ो जी भगवान।
हरजी बोल्या म्हे तो जायस्यां ए राधा नार,
जी राधा म्हारै छै भगत अनेक,
परभाते बोल्यो कूकड़ो जी भगवान।
राधा करै थांसै बीनती जी भगवान,
जी परभू भगतां की करयो ना माफ,
आधी कै बोल्यो कूकड़ो जी भगवान।
राधा तो जाए न देयसी जी भगवान,
जी परभू रह्यो ना मारै म्हैल,
आधी कै बोल्यो कूकड़ो जी भगवान।
मात जसोदा का लाड़ाला जी भगवान,
जी परभू बाई ओ सहोदरा का बीर,
आधी कै बोल्यो कूकड़ो जी भगवान।

इस गीत मे प्रभातकाल का जो वर्णन दिया गया है, वह बड़ा ही सरस एवं स्वाभाविक है। साथ ही श्रीकृष्ण की चतुराई भी सुन्दर ढंग से प्रकट की गई है। राधा का पतिप्रेम इन सबसे ऊपर है। मुर्गे ने तो आधी रात के समय भगवान को जगा दिया परन्तु वे कुबजा के यहां जा न सके। आगे एक दूसरा लोक-गीत प्रस्तुत किया जाता है जिसके अनुसार श्री कृष्ण कुबजा के यहां द्वारिका जाते हैं। पूरा गीत इस प्रकार है—

कातै ही ए राधा लामैं लामैं तार,
अटली तो बटली ए राधा कूकड़ी।
के थारो ए राधा दूखै लागो पेट,
के थारी पाकै चिटळी आंगळी।
ना म्हारो जी सासूजी दूखै लागो पेट,
ना म्हारी पाकै चिटली आंगळी।
सासू को जायोजी म्हारी बाई सहोदरा को बीर,
बै हर चाल्या राम दुवारका।
हॅस हॅस ए राधा द्यो ना म्हानै सीख,
जो चित लागै राम दुवारका।

सीखड़ली जी सांवरा देई ए न जाय,
छाती तो फाटै हिवड़ो ऊफळै।
हिवड़ो ए राधा हीरां सै जड़ाय,
छाती जड़ाल्यो सांचै मोतियां।
चाल्या हरजी ढळती सी रात,
दिनड़ो ऊगायो राम दुवारका।
म्हे तो हरजी जोवै छा थारी बाट,
थे नहीं आया म्हारै देस मै।
म्हे तो ए कुबजा आया परभात,
राधा नै छोडी म्हे तो झूरती।
थानै जी हरजी प्यारी राधा नार,
थे तो उठ जात्रो थारै देस मै।
थें हो ए कुबजा हिवड़ै रो हार,
राधा तो म्हारै मन बस रही।
आयाजी सांवरा ऊगतड़ै परभात,
सूती राधा नै आय जगाइया॥

इस गीत मे श्रीकृष्ण का दाक्षिण्य प्रगट किया गया है। वे कुबजा के पास जाते हैं परन्तु उन्हें राधा के प्रति कम प्रेम नहीं हैं। वे वहां से लौट भी आते है और राधा को जगाते हैं। इसी तरह राधा के रोकने पर आरम्भ में वे कुबजा के पास जाने से रुकते भी नहीं। कुबजा उनके हृदय की हार कही गई है तो राधा उनके मन मे बसी हुई है।

श्रीकृष्ण भगवान के कई रानियां थी। लोकगीतों के अनुसार वे सभी एक ही जगह रहती हुई भी दिखाई गई हैं। इन गीतों मे सपत्नि भाव के बड़े ही मनोरंजक दृश्य उपस्थित किए गए हैं। इन सभी प्रसगों पर श्रीकृष्ण मौजूद दिखाए गए हैं। इनमे हास्य की मात्रा भी प्रचुर है। यहां एक ऐसा लोकगीत दिया जाता है जिसमें राधा और रुक्मिणी में झगड़ा होता है। इस झगड़े का कोई विशेष कारण भी नहीं है। एकदम छोटी सी बात पर तकरार हो जाती है। पूरा गीत इस प्रकार है—

आछ्या राम मिलण कद होय॥ टेक॥
पो फाटी पगड़ो भयो, थे तो जागो नदजी का लाल जी।
ग्वाल बाल सब आय की, कान्हा गऊ ए चरावण जायजी।

ग्वाल बाल मिल बन गया, यो तो गऊ चरावै नदलाल जी।
कान्ह गऊ ले बाव्रड्यो, घर आयो जसोदा को लाल जी।
राधा कै आगे आमली, रुकमण कै आगै आम जी।
राधा को सूकै पीसणो, रुकमण की चर गई गाय जी।
राधा जी रुकमण लड़धड़ी, दोन्या की हो गई राड़ जी।
राधा की टूटी नोगरी, रुकमण को नोसर हारजी।
राधा को फाट्यो कांचवो, रुकमण को दिखणी चीर जी।
गोखां तो बैठ्या हर हसै, थांकै क्यां पर हो गई राड़ जी।
राधा को सूकै पीसणो, रुकमण की चर गई गाय जी ।
राधा जी रुकमण लड़धड़ी, दोन्यां की हो गई राड़ जी।
ओर घड़ाद्यां राधा नोगरी, थानै ओर मॅगाद्यां रुकमण हार जी।
ओर सिमाद्यां राधा कांचवो, थानै ओर मॅगाद्यां दिखणी चीर जी।
थे जुग जीवो बेटा नद का, थे दोन्यां को राख्यो मान जी।

इस गीत मे भी श्रीकृष्ण का दाक्षिण्य प्रगट किया गया है। सपत्नि भाव बड़ा ही ईर्ष्यामय होता है। दोनों सपत्नियों में जरा सी बात पर भारी झगड़ा हुआ और अत मे श्रीकृष्ण ने दोनों का निपटारा किया।

लोकगीतों मे श्रीकृष्ण साधारण जनसमाज में चलने फिरने वाले एवं गृहस्थी की झंझटों में फंसे हुए व्यक्ति नजर आते हैं। वहां उनके विषय मे पौराणिक उपाख्यान से परे नाना प्रकार की कहानियां बनी हुई हैं। वे राधा, रुकमण, सत्यभामा एवं कुबजा आदि अपनी रानियों के साथ रहते हैं। उनकी रानियों मे पारस्परिक सौतिया डाह भी साधारण गृहस्थों के समान ही है। भारतीय साहित्य में कुबजा के प्रति कवियों का जो क्रोध भाव प्रगट हुआ है, लोकगीतों मे उसे कई रंग दिए गए हैं। फिर भी लोकगीतों मे जनसाधारण का कुबजा के प्रति जो क्रोध है, वह अप्रगट नहीं रह सका है। यहां इसी प्रसंग का एक राजस्थानी लोकगीत प्रस्तुत किया जाता है। यह गीत बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमे हास्य की भी गजब की छटा है। इस गीत में तो श्रीकृष्ण एकदम ही जन-साधारण मे आ मिले हैं। गीत की कहानी भी बड़ी रोचक है। एक बार श्रीकृष्ण एक साड़ी लाते हैं। वह बड़ी ही सुन्दर है। अपनी माता के कहने से वह साड़ी राधा को देते हैं। एक दिन इसी साड़ी को वे चुरा कर कुबजा को दे देते हैं। कुबजा उसे धारण करके बाहर निकलती है।

राधा उस साड़ी को पहिचान लेती है। बातचीत बढ़ती है और कुबजा से वह साड़ी छीन ली जाती है। श्रीकृष्ण सब कुछ देखते हैं और हँसते हैं। अंत में वे अपनी सभी रानियों के प्रति समभाव प्रगट कर देते हैं। पूरा गीत इस प्रकार है—

मै वारी म्हारा सांवरा गिरधारी ॥ टेक ॥
तीन भवन मै प्रभुजी बेजो ए बुणायो,
तो बैठ रँगाई सेला साड़ी।
साडी ले प्रभुजी छींपा कै चाल्या,
तो नान्ही नान्ही बूंदी बँधाई।
साड़ी तो ले प्रभुजी घर नै पधारया,
तो माता जी नै दीनी सेला साड़ी।
थारी तो साड़ी कान्हां भोत सोवणी,
तो राधा नै देद्यो सेला साड़ी।
ठाकुर जी तो लेयर साड़ी राधका नै दीनी,
तो ओढो ना बार त्युँहारी।
साड़ी तो सामट राधा बुगचै मै मेली,
तो बुगचै की डोर खिचाई।
आधी आधी रात पहर होय तड़को,
तो ठाकुर जी चुराई सेला साड़ी।
साड़ी तो लेयर प्रभु कुबजा नै दीनी,
तो ओढो ना रैन अँधेरी।
साड़ी तो ओढ कुबजा पाणी नै चाली,
तो सहेल्यां पिछाणी सागण साड़ी।
सहेल्यां तो आयर घरां राधका नै कह्यो,
कुबजा तो ओढयां सागण साड़ी।
साड़ी तो ओढ कुबजा छाछ नै आई,
तो राधका पिछाणी सागण साड़ी।
थारी तो साड़ी कुबजा भोत सोवणी,
तो कठै ए रँगाई सेला साड़ी।
म्हारो तो काकोजी पूरब बसत है,
तो काकी जी खिनाई सेला साड़ी।

इन्नै सै राधा आई उन्नै सै रूकमण,
पटक पछाड़ी खोसी साड़ी।
गोखां तो बैठ्या हरजी हंसत है,
तो साथीड़ा हसै दे दे ताळी।
थे कुबजा ए थारै घरां नै पधारो,
तो ओर रगाद्यां सेला साड़ी।
राधा तो रूकमण बूजण लागी,
तो कुण सी पियारी थानै नारी।
राधा भी प्यारी हर नै रूकमण भी प्यारी,
तो घणी ए पियारी कुबजा नारी ॥

इस गीत मे दाम्पत्य-विनोद की निराली ही छटा है। श्रीकृष्ण शुरू मे तो साड़ी राधाजी को भेंट कर देते हैं। फिर उसी साड़ी को चुराकर कुबजा को दे देते हैं और उसे कह देते हैं कि इसे छिपे तौर पर धारण करना। परन्तु वह इस सलाह पर ध्यान नहीं देती और प्रगट रूप मे उसे धारण करके घर से बाहर घूमती है। साड़ी पहिचानी जाती है और छीन ली जाती है। श्रीकृष्ण इस छीना-झपटी का तमाशा देखते हैं। यह सारी लीला नटनागर की ही तो है। इस परिवार को जन-जीवन का रूप यहां तक दिया गया है कि श्रीकृष्ण की रानी कुबजा छाछ मांगने तक घर से निकलती है। छाछ मांगना बुरा नही है। यह राज-स्थान का एक साधारण रिवाज है।

श्रीकृष्ण भगवान गोकुल छोड़कर मथुरा चले गए और फिर वहां से द्वारिका जा बसे। उधर उनकी बाल-लीलाओं का क्रीड़ास्थल वियोग में डूब गया। भारतीय कवियों ने इस विरहकथा को बड़े विस्तार के साथ गाया है। लोक गीतों मे भी यह विरह गाया जाता है। यहां एक विरह-गीत प्रस्तुत किया जाता है। इसमे राधा का विरह वर्णन है। पूरा गीत इस प्रकार है—

नैणां परभू बिलम रह्यो ॥ टेक ॥
सांझ पड़ी ओ दिन आथण लाग्यो रामा,
तेली की ल्याई चोखो तेल क नैणां परभू बिलम रह्यो।
घर दे तेली की बेटी हर कै मंदर मैं रामा,
हर बिना दिवलो चासे कूण क रामा,

हर बिना दिवलो म्हांनैं इसड़ो सो लागै रामा,
जाए क मेह अधेरी रात क नैणां० ।
सांझ पड़ी दिन आथण लाग्यो रामा,
गूजर की ल्याई चोखो दूध क नैणां० ।
धर दे गूजर की बेटी मंदर मै रामा,
हर बिना दूधो पीवै कूण क नैणां० ।
हर बिना दूधो म्हानै इसड़ो सो लागै रामा,
जाणै कोई खाटी सी छाछ क नैणां० ।
सांझ पड़ी दिन आथण लाग्यो रामा,
हलवाई की ल्यांई चोखा लाडू क नैणां० ।
धर दे हलवाई की तू हर कै मदर मै रामा,
हर बिना लाडू खावै कूण क नैणां० ।
हर बिना लाडू म्हानै इसड़ा सा लागै रामा,
जाणै कोई करड़ कसार क नैणां० ।
सांझ पड़ी दिन आथण लाग्यो रामा,
पनवाड़ी की ल्याई चोखा पान क नैणां० ।
धर दे पनवाड़ी की तूं हर कै मदर मै रामा,
हर बिना पान ज चावै कूण क नैणां० ।
हर बिना पान म्हानै इसड़ा सा लागै रामा,
जाणै कोई आकां का पान क नैणां० ।
सांझ पड़ी दिन आथण लाग्यो रामा,
खाती को ल्यायो चोखो ढोल्यो क नैणां० ।
धर दे खाती का बेटा हर कै मंदर मै रामा,
हर बिना ढोल्यो पोढ़े कूण क नैणां० ।
हर बिना ढोल्यो म्हानै इसड़ो सो लागै रामा,
जाणै कोई टूटयोड़ी खाट क नैणां० ।
सांझ पड़ी दिन आथण लाग्यो रामा,
पिनारै की ल्याई चोखी सोड़ क नैणां० ।
धर दे पिनारै की तूं हर कै मंदर मै रामा,
हर बिना सोड़ ज ओढै कूण क नैणां० ।
हर बिना सोड़ म्हानै इसड़ो सी लागै रामा,
जाणै कोई फाटयोड़ो पूर क नैणां० ।

इस गीत से विरह का दुख टपका पड़ता है। विरहणी राधा को अपने प्रियतम के बिना ससार की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। जो चीजे उसे श्रीकृष्ण के सयोग मे आनद देती थी, वे वस्तुए अब नीरस होगई हैं। साथ ही इस गीत के शब्दों के समान ही इसकी ढाळ भी भारी करुणापूर्ण है। लोक-गीतों मे उनकी धुन अपनी निजी विशेषता रखती है। इस गीत मे विरह के स्वाभाविक उद्गार हैं।

श्रीकृष्ण के जीवन प्रसंगों से सबधित अन्य गीत भी राजस्थान में गाए जाते है। उनके विषय के गीत ब्रज लीलाओं तक ही सीमित नहीं हैं। यहां एक गीत सुदामा और श्रीकृष्ण के विषय मे और दिया जाता है। इस गीत की कथा वही है, जो सर्वसाधारण मे प्रचलित है। पूरा गीत इस प्रकार है—

भायलो नदलाल पियाजी थारो,
भायलो गोपाल हरी जी ॥ टेक ॥
कवै सुगणी समझो स्वामी,
दुवारका उठ जावो जी।
दुवारका मै मित तुमारो,
दाळद दुख सारो दूर करो जी ॥
पाड़ोसण पां गई बिरामणी,
तदुल ल्याई चार पसै जी।
तंदुल लेकर चल्या तो सुदामा,
दुवारका नै जाय रह्याजी ॥
पहली पोळ गज हस्ती घूमै,
दूजी मै ड्योडीवान खड़्या जी।
तीजी पोळ बिसकरमाजी ठाड्या,
खंभा तो रतन जड़ाव जड़्या जी ॥
जद रै सुदामा जी पोळ धस्या है,
पोळयां मै ड्योडीवानां अटक दियाजी।
रतन सिंघासण बैठ्या नदनदन,
बिपर सुदामा वांकी नजर भयाजी ॥
पांच पैड हर सामों आया,
भुजा ए पसार मिल्या तो मिल्या जी।

सोच बिचार अब क्यू करो जी सुदामा,
अब कांई ठाकुर थांसू दूर रह्या जी ॥
ताता सा पाणी तेल उबटणा,
मळ मळ मैल उतार रह्या जी।
राई रूकमण नुह्‌वण लागी,
तेल फुलेल लगाय रह्या जी ॥
छत्तीस प्रकार की करी जी रसोई,
रुच रुच भोग लगाय रह्या जी ॥
जद रै सुदामाजी जीमण बैठ्या,
रूकमण थाळ परोस रही जी ॥
भाभी देई सो भेंट देवो जी सुदामा,
अब क्यूं मित छिपाय रह्याजी।
गठड़ी खोल प्रभु फाको मारयो,
तदुल की मायो एक पसै जी ॥
एक मुठी बूक दुजी मुठी बूकी,
तीजी मै कमला अटक लिया जी।
तिरलोकी के म्हानै तजोगा पियाजी,
या के बुद्ध बिचार लई जी ॥
बिसकरमाजी नै आग्या दीनी,
सुदामाउरी उठ जावो जी।
जैसी तुमारी पुरी दुवारका,
जैसी रचावो सुदामापुरी जी ॥
दुवारकापुरी सै चल्या जी बिरामण,
मन मै तो भोत उदास भया जी।
हाथ मै ना दियो ना पलै मै प्रभु घाल्यो,
मन मै तो भोत बिचार भयो जी ॥
पहली पोळ गज हस्ती घूमै,
दूजी मे ड्योडीवान खड्या जी।
तीजी पोळ बिसकरमाजी ठाड्या,
खभा तो रतन जड़ाव जड़्या जी ॥
इउत इतउ फिरै जी बिरामण,
मन मै तो भोत उदास भया जी।

छुज्जा तो बैठी परम सुन्दरी,
आवो कथ घरे तो घरे जी ।।
पांचूं पदारथ दिया नंदनदन,
दीनानाथ दिया तो दिया जी ।
दाळद दुख अपणो दूर करयोजी,
संकट अपणो टाळ दियो जी ।।

ऊपर राजस्थानी लोकगीतों मे श्रीकृष्ण लीला के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं । कहा जा चुका है कि राजस्थान मे इन लोकगीतों को हरजस नाम दिया जाता है । इन हरजसों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इनमे राजस्थान का वातावरण है । यही की प्रकृति है और यहीं के रीति रिवाज हैं । राधामाधव की वेशभूषा भी राजस्थानी है । उनके गहने कपड़े भी राजस्थानी हैं । राधा जी दिखणी का चीर ओढ़ती है और श्रीकृष्ण केसरिया जामा पहिनते हैं । भोजन का जिक्र आता है, तो बाजरे की रोटी सामने आती है । कहने का तात्पर्य यह है कि इन हरजसों के राधाकृष्ण पूर्ण रूप से राजस्थानी हैं । वे व्रज के वासी नहीं हैं ।

साथ ही इन हरजसों के राधाकृष्ण भी इनके गाने वालों की श्रेणी के ही बने हुए हैं । राधा साधारण गृहस्थ के समान घर का धन्धा करती हैं । वे चर्खा कातती हैं, आटा पीसती हैं । श्रीकृष्ण वन मे गाय चराते हैं तो राधा उनके लिए भाता (भोजन) लेकर जाती हैं । इसके अतिरिक्त इन गीतों के अनुसार श्रीकृष्ण की रानियां साधरण घर की स्त्रियों के समान झगड़ा करती हैं । वे मारपीट तक करती हैं । सौतिया डाह के हरजस तो बहुत ही ज्यादा हैं । कई गीतों मे राधा, रुकमण, सतभामा, कुबजा मे जरा जरा बात पर झगड़ा होता है । कभी वे गहनों के लिए अड़ती हैं, तो कभी कपड़ों के लिए । इनमे श्रीकृष्ण राजा नहीं हैं, जनसाधारण मे से एक व्यक्ति हैं । समाज ने श्रीकृष्ण को अपने मन का रूप दे दिया है । यही स्थिति उनकी रानियों की हुई है ।

इन हरजसों की वर्णन शैली अन्य लोकगीतों की सी ही है । यहां श्रीकृष्ण का स्वागत सत्कार होता है, तो ठीक ऐसा मालूम होता है मानों किसी के घर जँवाई आया हो । कई हरजस तो एकदम लोकगीतों के आधार पर ही चलते हैं । इनमें वर्णन क्रम भी लोकगीतों के समान ही

है। वस्तु परिगणन की परिपाटी सर्वत्र दिखाई देती है फलतः एकसी शब्दावली एक ही हरजस मे कई बार प्रयुक्त होती है। इतना जरूर है कि इनमे हरे राम, हो राम, जी भगवान, जी परभू, रामा आदि पदों का इतना अधिक प्रयोग होता है कि इनका हरजसपना स्पष्ट सामने आता रहता है।

इन हरजसों मे अकृत्रिम लोकभाषा का सौन्दर्य मिलता है। इनकी भाषा जरा भी अस्वाभाविक नहीं, यह ठेठ भाषा है। साधारण जनता जिन शब्दों मे बोलती हैं, उन्हीं शब्दों मे गाती है। उदाहरण के लिए निम्न प्रयोग देखिए—

दही को सबड़को कान्है नै भावै।
कान्हो तो जद टोरो मारयो।
म्हारो ए काको पूरब बसत है।

साथ ही इन हरजसों मे चलती हुई लोकभाषा की ऐसी पदावली का प्रयोग होता है जो हृदय मे घर कर लेती है। सीधेसादे शब्दों में एक चित्र सा खैच दिया जाता है। उदाहरण देखिए—

"थारो जी कान्हो भोत हठीलो,
तो हार तोड़ मोती मांगै नदराजा।"
"लिख चीठी बाबुल घर भेजी,
तो गायां रो गुवाल्यो बर हेरयो हो राम।"
"गंगा जागी ना जमना जागी जी भगवान,
जी परभू नहीं जाग्यो नदियां रो नीर।"
"हिवड़ो ए राधा हीरां जड़ाय,
छाती जडाल्यो सांचै मोतियां।"

इन हरजसों में वात्सल्य एवं शृङ्गार रस की वेगवती धारा बहती है। इस रस-धारा मे भक्त लोग परम आनन्द प्राप्त करते हैं। राधा-माधव का प्रेम-प्रसग भारतीय साहित्य की अनमोल निधि है। इसमे नाना प्रकार की लीलाएँ हैं। इन सब लीलाओं का दार्शनिक आधार है। यही कारण है कि इन लीलापदों का हमारे देश में इतना प्रचार है। जन साधारण मे श्रीकृष्ण की प्रेम लीलाओं के प्रति बड़ा आकर्षण है। इन लीलाओं मे मान, मनावण, मिलन, विनोद, वियोग, विलाप आदि सभी प्रसग हैं। इनके नाना प्रकार के भावों का संचार

भक्तों के हृदय को लुभाता है। मानव जीवन के अनेकों प्रकार के प्रसग इन प्रेम लीलाओं के हरजसों मे पाए जाते हैं। श्रीकृष्ण के भी कई रूप लीला-पदों मे प्रगट होते हैं। ये गीत महिला समाज मे गाए जाते हैं, अतः इन लीलाओं का सरल सुबोध होना ही सार्थक है। जन-साधारण अपने आराध्य देव को नाना रूपों मे देखकर परम आल्हादित होता है। असल मे ये हरजस सामान्य जन के हृदय की छाया ही हैं।

इन हरजसों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग इनकी अमृतोपम धुने हैं। सभी गीतों की अपनी अलग अलग धुने हैं। असल में इनका रस इनकी धुन को छोड़कर इन्हें लिपिबद्ध मात्र करने से अलग सा छूट जाता है। गीत के विषय के अनुसार ही उसकी धुन चलती है। जब "नैणां परभू विलम रह्यो" गीत गाया जाता है तो ऐसा ज्ञात होता है मानों चारों तरफ का वातावरण ही श्रीकृष्ण के वियोग मे रोने लगा हो। इन हरजसों की धुनें हमारे समाज का परम धन है। लोक संगीत की वह अमृतधारा समाज को जीवनरस प्रदान करने वाली कामधेनु है। इन गीतों को गाकर या सुनकर लोग अपने क्षणों को पुण्यमय बनाते हैं और जीवन को धन्य समझते हैं। साहित्य शोधकों के लिए यह क्षेत्र अभी खोज से दूर ही बचा हुआ है। इस दिशा मे जितना काम होगा, समाज का उतना ही हित होगा।

[३]

शेखावाटी के लोक-गीत

लेखक – श्री गीडाराम वर्मा

[राजस्थान मे शेखावाटी का विशेष स्थान है। इस क्षेत्र मे भी अन्य राजस्थानी भागो की तरह लोकगीतो की अनूठी रगत मिलती है। श्री वर्माजी ने शेखावाटी के लोकगीतो की रूपरेखा प्रस्तुत कर विस्तृत अध्ययन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। —प्रबन्ध सपादक]

गीत-साहित्य में भावना की प्रधानता रहती है। लोकजीवन भावुक और सरल होता है। अतएव लोकगीत स्वाभाविक एव लोकजीवन के अनुकूल होते हैं। ये लोकजीवन के अविच्छिन्न अंग हैं। इनसे दुःख हलका होता है, सुख दूना होता है और परिश्रम में थकान महसूस नहीं होती।

लोक गीतों के विषय कम नहीं रहे हैं। श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया ने लगभग बारह हजार गीतों का सग्रह किया है अतएव इनकी समद्धि एवं विशाल संख्या का अन्दाज अनायास ही लग जाता है। छोटी-छोटी चीजों पर भी गीत रहे हैं। गीतों का ये वस्तुएं विषय होगई हैं—घोड़ी, पीठी, आरतो, सेवरो, पखी, खीपोळी, टीकी, झुमकड़ो, कांगसियो, सूवटो, मेहदी, चूनड़ी, दीवलो, केवड़ो, भांगड़ली, महमद, गांधी, चूड़ो, चीणोटियो, पीळो, खटमल, झालर, न्यूतो, संझ्या, पिलंगड़ी, कॉगण, डोरड़ो, कामण, नीदड़ली आदि।

अब हम अधिक विस्तारपूर्ण और कम तथ्य की बातों की ओर न जाकर मुख्य विषय पर आते हैं। शेखावाटी के लोकगीतों का निम्न वर्गीकरण हो सकता है—

१. त्यौहारों के गीत :—

इन गीतों मे होली, तीज, गणगौर, चानाछट, शीतला के गीत आते हैं। गणगौर के गीत सबसे अधिक देखने में आये हैं। उसके बाद तीज के। लगभग १५-२० गीत हरेक त्यौहार के मिल जाते हैं।

२. पर्वों के एवं धार्मिक गीत :—

इनमे कार्तिक स्नान, तुलसी, ध्रुवजी, पित्तर, सतीमाता, हनुमानजी, भैरूजी, मावस, हरजस, भजन, सबद, पारवा, निर्गुण भजन, बारा-मासिया आदि के अलावा, इमरतीनाथ, कबीर, मीरां, लिखमो, भानी-नाथ, चन्द्रसखी, वख्तावर आदि के सबद और भजन बहुत सुन्दर मिलते हैं। नाथ पंथियों का पर्याप्त साहित्य इधर मिलता है। इनको लोक समाज गाता है।

३. सामाजिक एवं पारिवारिक:—

इनकी संख्या बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है। इस वर्गीकरण में शायद गीत संख्या सबसे अधिक है। विवाह मे सैकड़ों गीत गाये जाते हैं। विवाह एवं पुत्रजन्मोत्सव पर 'राती जगा' होता है। इसमे रात भर स्त्रियां जागकर गीत गाती हैं। रात के लगभग आठ बजे से लेकर सबेरे दिन के ६ बजे तक गीत गाये जाते हैं। इनको स्त्रियां ही गाती हैं। इनमे मुख्य गीत जो रातीजगा मे गाये जाते हैं वे हैं सनेही ढोला, बिणजारा, कलाली, सात बहनों के गीत, पितरों के, मेडलमाता, बड़ीजी आदि। ये गीत पारिवारिक प्रेम बढ़ाते हैं। सामाजिक ऐक्य लाते हैं। इनका सामाजिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। इन गीतों के द्वारा एक जाति का प्रेम दूसरी जाति से हुआ है। इनमे कृतज्ञता प्रकट की गई है। कहीं भी दूसरी जाति पर कटाक्ष नहीं है। लोक-जीवन तो एक दूसरे पर आश्रित है। बहुत से विषय तो पहले लिखे जा चुके हैं, इनके अलावा, जंवाई, जीजा, देवर, जेठूंता, जापा के गीत, गीगा, वियोग के गीत (ओल्यूं), भाभी, देवर, भाई विषय लोकगीतों के रहते है। पीपली और इमली के फैलाव के प्रतीक रूप में परिवार की ही वृद्धि एवं बढ़ाव व्यक्त किया गया है। जच्चा के गीतों की संख्या ही लगभग २० से ऊपर मिल जाती है।

४. संतों एवं ऐतिहासिक वीर पुरुषों के गीत :—

इनमे गोगा चौहान, केसरिया, सतियां, उमादे, आभलदे, भोमिया, भमूतो सिद्ध, संत रामदेवजी, आदि पर गाये जाने वाले गीत आते हैं।

लोक गीतों की विशेषतायें

१. साहित्यिक सौन्दर्य—लोकगीतों मे साहित्यिक सौन्दर्य खूब भरा हुआ है। कई कई गीत तो उच्च साहित्यिक कृतियां हैं। स्वर्गीय पारीकजी ने अपने सम्पादन द्वारा साहित्यिक सौन्दर्य का दिग्दर्शन करवाया है। दुख सुख, आनंद, हास्य की अभिव्यक्तियां इनके द्वारा हुई हैं। यह स्वतन्त्र निबन्ध का विषय बन सकता है। बेटी की विदाई के गीत रुला देते हैं। भात (माहेरा) के गीत विह्वल कर देते हैं। शृङ्गार की उक्तिया भी इनमे मिलती है। परिष्कृत सौन्दर्य एव शिष्ट शृङ्गार का एक नमूना देखिये। जवाई जीम रहे है। उनका नेत्र वर्णन किया जा रहा है—

'जी आँख आपरी बड़ी बड़ी
रामलालजी नीबू की सी फांक
फाड़ नीबू चूसल्यॉ
थारी आँख न चूसी जाय—जवाईजी,

हे जवाई जी! आपकी आंखे नीबू की सी फॉके हैं। नींबू की फॉकों को तो हम फाड़कर चूस सकते हैं किन्तु आपकी आंखे नहीं चूसी जा सकती हैं।

माहेरा मे भाई बहिन को चूनड़ी ओढ़ाता है। चूनड़ी हीरों से सुसज्जित है। बहिन के हृदय की बेबसी और द्वंद्व (Conflict) का चित्रण यहां हुआ है—

"ओढ़ूं तो हीरां रे बीरा ढह पड़ै
मेलू तो तरसै बाई को जीव
ओढ़ाई गणदेवा चूनड़ी।"

हे भाई! यदि मै चूनड़ी को ओढू तो ये हीरे ढह पड़ते हैं। यदि इसको रखदूं तो मेरा जी तरसता है। ओढ़ने को मन करता है। कितनी स्वाभाविक उक्ति है। हृदय का द्वंद्व यहां व्यक्त हुआ है। गण देवता (गणेशजी) की मांगलिक कृपा से उन्हीं के समान हे भाई! तुमने यह चूनड़ी ओढाई है। विदाई के गीत तो कालिदास की शकुन्तला की याद दिला देते हैं। रुला देते हैं। बधावा के गीत आनन्द की वर्षा कर जाते हैं। सुखी बना देते हैं। इनकी पक्तियॉ आनन्दित कर देती हैं—

'म्हारे आंगण आम पिछोकड़ मरवो
यो घर सदा ये सुहावणो

होते हैं। पति को 'सास सपूती रा पूत' और "लाल नणद रा ओ वीर" के शब्दों से भी सम्बोधित किया जाता है। इससे सम्बन्ध अधिक फैलता है और गहरा होता है। गीतों मे श्रमी जातियों का नाम लिया जाता है। समाज में एक जाति दूसरी जाति पर अवलम्बित है। उसके बिना समाज का काम बिल्कुल भी नहीं चल सकता। इस प्रकार माली, रैगर, स्वर्णकार, दर्जी, रगरेज, खाती सभी के प्रति आत्मीयता प्रकट की जाती है।

५. गीतों में ऐतिहासिक एव राजनैतिक पक्ष—राजनैतिक बाते भी गीतों मे आई हैं। 'टोडरमल जीत्याजी' गीत मे टोडरमलजी की वीरता एव ऐतिहासिक घटना व्यक्त हुई है। कदली देश के हाथी, सिधु देश के घोड़े, बीजासर की बींजणी (पंखी), सोरठड़ी तलवार, देवगढ़ की थाली आदि नाम गीतों मे लिये जाते हैं। उनकी 'पाग को सलामत' रखने की शुभ आशा की जाती है।

६ कलात्मक विशेषताये—नृत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, अभिनयकला गीतों के साथ जुड़ी हुई है। लोक नृत्य को गीत ही सजीव करते हैं। कुछ गीत तो नृत्य प्रधान ही हैं।

पुरुषों के गीत—पुरुषों के गीतों मे भजन, सबद, फागुन मे गाई जाने वाली धमालें एवं अन्य फड़कते होली के गीत हैं। होली के अवसर पर नृत्य और अभिनय के साथ लोकगीत गाये जाते हैं। ग्यारस, मगलवार, शनिवार, ग्रहण तथा अन्य धार्मिक पर्वों पर मंदिरों मे भजन गाये जाते हैं। धमाल व भजनों मे बालक भी साथ देते हैं।

स्त्रियों के गीत–लोकगीतों मे स्त्रियॉ ज्यादा अंश में भाग लेती हैं। विवाह, पुत्र-जन्मोत्सव, अन्य समाज के उत्सवों पर ये ही गाती हैं। बेटी के ससुराल जाते समय गीतों से उसे बिदा दी जाती है। जँवाई के आने पर गीतों से सत्कार किया जाता है।

बालिकाओं के गीत—बालिकाये जीजा, तुलसी पूजन, तीज, होली, गणगौर पूजन, चानाचट अदि अवसरों पर गीत गाती हैं।

---

[४] प्रकीर्णिका—

[१]

मेंहदी-मांडणा

लेखक—श्री चन्द्रशेखर दुबे

[मेंहदी-माडणा राजस्थानी महिलाओ का प्रिय कार्य होता है। हाथो और पैरो को मेंहदी की सहायता से विभिन्न आकृतियो से सजाया जाता है। गोरे हाथ-पैर पर मेंहदी की विभिन्न आकृतिया बडी कलापूर्ण और आकर्षक लगती है। यहा सम्बन्धित विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

—प्रबन्ध सम्पादक]

स्त्रियों के लिए मेंहदी बड़ी प्रिय वस्तु है। मेंहदी का महत्त्व शृंगार के अलावा, धार्मिक त्यौहारों व विवाहादि अवसरों पर भी है। गणगौर पर तो सौभाग्यवती स्त्रियों का इसके बिना काम ही नहीं चलता है। इस अवसर पर मेंहदी सौभाग्य का चिन्ह मानी जाकर आपस में वितरित की जाती है। बहू-बेटी को घर से विदा करते समय भी मेंहदी लगाना आवश्यक सा ही है।

किन्तु यह मेंहदी लगाना आसान काम नहीं है। स्त्रियां बडे परिश्रम से इस काम को करती हैं। कितनी ही तरह से मेंहदी मांडती हैं। तभी तो बड़े अभिमान पूर्वक एक लोकगीत मे कहा है—

"लिखना पढ़ना छोड़ दो, निरखो गोरी रा हाथ।"

गांव की गोरी अपने ही जैसी सीधी-सादी मेंहदी मांडती है। एक हाथ मे रुपया व पांचे मांड रखे हैं तो दूसरे में 'मुट्ठिया'। पांचों व रुपयों के आकार की नकल की गई है। इन्हें कुछ कलात्मक ढग से लकीरों के द्वारा जोड़ दिया गया है। दूसरे हाथ की मेंहदी का नाम मुट्ठिया, मुट्ठी के अन्दर मेंहदी का लड्डू बनाकर रख लेने के कारण पड़ गया है। मुट्ठी के बन्द हो जाने पर, जिस जगह पर सल वगैरा पड़ गये थे, वे सफेद रह गये हैं। इससे इसमें कुछ सुन्दरता आ गई है। गांव की गोरी ने बस यही सीधा-सादा ढग अपना लिया है। इसके पास इतना समय कहां कि यह बड़ी बारीकी से मेंहदी मांडे!

मेंहदी का बारीक काम देखना है तो किसी अभिजात्य वर्ग की रमणी का हाथ देखिए। किसी ने चौपड़ मांड रखी है, तो किसी ने

गालीचा, किसी ने चुदड़ी, तो किसी ने घेवर, किसी ने सान फूल की जोड़, तो किसी ने चार फूल की जोड़। कहीं बेने हैं तो कहीं फूल। देखिये, अगुलियों पर भी कितनी बढ़िया मेहदी मांडी गई है। हथेली की पीठ पर जो बेल जैसी बनी है इसे पीहरवाट या पीहर का रास्ता कहती हैं। अब पैर पर भी नजर डाल लीजिये। इन फूलों से व बेल से पैर की खूबसूरती बढ़ जाती है।

माचिस की तीली से, सुई से या किसी सलाई से मेहदी मांडी जाती है। मेहदी तैयार करने के भी इनके अलग अलग तरीके हैं। कोई मेहदी मे इमली का पानी, कोई गोंद का पानी, तो कोई कत्था, तो कोई घासलेट मिलाती हैं। मेहदी माडने के पहले कोई हाथ पर रोसो (एक खुशबुदार घास) का तैल मल लेती हैं तो कोई मेण से इच्छित आकृति माड लेती है।

---

[२]

भारतीय लोक-कला मण्डल, उदयपुर द्वारा आयोजित

अखिल राजस्थान लोक-नृत्योत्सव और सांस्कृतिक सप्ताह

अखिल राजस्थान लोक-नृत्योत्सव और सांस्कृतिक सप्ताह भारतीय लोक-कला मडल उदयपुर द्वारा ता० १२ से १६ मई ५६ ई० तक बड़े उत्साह से मनाया गया। इस अधिवेशन एव उक्त सस्था के चतुर्थ वार्षिकोत्सव के सभापति श्रीयुत मोहनलालजी सुखाड़िया, मुख्य मत्री राजस्थान थे। उत्सव का उद्घाटन बिहार के राज्यपाल और कलामंडल के अध्यक्ष श्री रगनाथजी दिवाकर द्वारा ता० १२ मई की शाम को हुआ। अपने उद्घाटन भाषण मे श्री दिवाकरजी ने कहा कि लोक-कला अनत शक्ति की प्रणेत्री है। यह ऊँच-नीच के भावों को दूर करती है और देश के भिन्न-भिन्न भागों को एक सूत्र में आबद्ध कर देती है। आपने धरती पर स्वर्ग उतारने के अक्षय स्रोत नृत्य और सगीत के पुनरुत्थान की आवश्यकता पर बल दिया। आपने आगे सुझाव दिया कि मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों के पूर्ण विकास के लिए नृत्य-संगीत और अन्य ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जानी चाहिए। आपने लोक-कलाओं के पुनरुत्थान मे भारतीय कला मण्डल के योग की सराहना की।

समारोह की अध्यक्षता करते हुए राजस्थान के मुख्य मंत्री श्री मोहनलालजी सुखाड़िया ने कहा कि नृत्य और गीत देश की एकता को बनाये रखने वाले हैं। गीत और नृत्य स्वास्थ्य और शक्ति के अजस्र स्रोत हैं, जिनसे निर्धन रह कर भी जनता अपनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करती है। आपने भारतीय लोक-कला मंडल द्वारा हुए प्रयत्नों की सराहना की। इसी अवसर पर भारतीय लोक कला मडल द्वारा राजस्थानी 'पणिहारी' नृत्य-नाट्य प्रस्तुत किया गया। फागुन मे गुजरात के भीलों का जीवन भी उपस्थित किया गया। इनके अलावा राजस्थान के लोक गीत सुनाये गये। पनिहारी की पृष्ठ भूमि मे जैसलमेर का वातावरण था।

श्री देवीलाल सामर सचालक कला-मंडल ने मडल की पिछले चार वर्ष की सक्षिप्त रिपोर्ट सुनाई। राजस्थान के गृह मत्री श्री रामकिशोर व्यास, उद्योग मत्री श्री भोगीलाल पड्या तथा सहकारी मत्री श्री अमृत-लाल यादव, श्री माणिक्लाल वर्मा, प्रमुख विद्वान्, अधिकारी और हज रों की संख्या मे जनता की उपस्थिति सराहनीय थी।

१३ मई को सबेरे एक विचारगोष्ठी का आयोजन रक्खा गया। इसका विषय था कि वर्तमान सभ्यता की चपेट से लोकसस्कृति की कैसे रक्षा की जा सकती है? इसके सभापति राजस्थान राज्य के सहकारी मत्री श्री अमृतलाल यादव थे। श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया ने बत-लाया कि विदेशी संस्कृति का अधानुकरण न करते हुए हमे अपनी लोक सस्कृति के मूल तत्त्वों की रक्षा करनी चाहिये। श्री देवीलाल सामर ने उनकी रक्षा के उपाय सुझाये। इनके अलावा अन्य वक्ताओं मे श्री नन्द चतुर्वेदी, श्री शिवशंकर शर्मा, जिलाधीश, श्री ढड्ढा और श्री कृष्णकुमार द्विवेदी थे। इस अवसर पर श्री दिवाकरजी ने कहा कि मानव और पशु में अंतर संस्कृति ही डालती है। लोक सस्कृति की सुरक्षा और विकास के लिए हमे सभी आवश्यक प्रयत्न करने चाहिये साथ ही हमे लोक सस्कृति को समय के अनुसार परखना और विकसित भी करना चाहिये। श्री मोहनलाल सुखाड़िया, मुख्य मत्री, राजस्थान, और अन्य प्रतिनिधि नागरिक इस अवसर पर उपस्थित थे।

शाम को राजस्थान के उद्योग मंत्री श्री पड्याजी ने लोक कला संग्रहालय व प्रदर्शिनी का उद्‌घाटन किया। इस अवसर पर आपने ऐसी प्रदर्शनियों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए बताया कि पिछड़ी जातियों की सस्कृति व कला पर एक जगह इतना सुन्दर संग्रह सराहनीय है।

रात्रि को अखिल राजस्थान लोक नृत्योत्सव गृह मत्री श्री राम-किशोर व्यास की अध्यक्षता मे मनाया गया। इसमें ६००० के लगभग दर्शकों की उपस्थिति थी। प्रदर्शन का प्रारम्भ राजस्थान के 'घूमर' नृत्य से हुआ। इसमे कलात्मक अग सचालन की मोहकता, राजस्थानी वेशभूषा की रगीनी और सहगीत के माधुर्य ने जनता को विशेष प्रभावित किया। सादुलखेड़ा के नटों ने अपने विभिन्न कौशलपूर्ण खेलों से सबको आश्चर्य-चकित कर दिया। जालोर के ढोल नृत्य, सीकर की कच्छी घोड़ी, समीचे की तेरह ताली, बीकानेर के गोगाजी के भोपों का प्रदर्शन,

मेवाड़ का भवाई नृत्य और अजमेर के कजरों के नृत्य के अतिरिक्त, समारोह के अतिथिदल सौराष्ट्र के नर्तकों ने साढ़े आठ बजे से साढ़े ग्यारह बजे तक समा बाँधे रक्खा। श्री व्यास ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे राजस्थानी लोक गीतों और ख्यालों का परिचय देते हुए कला-मडल के कार्य की सराहना की।

ता० १४ मई की रात्रि को नृत्योत्सव श्रीमान् माणिकलालजी वर्मा एम० पी० की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। उदयपुर के भीलों ने अपना 'गेर' नृत्य भी इसमे दिखलाया और नीमच के भवाई ने अपना कौशल प्रदर्शित किया। शेष उन्ही दलों ने कुछ परिवर्तनों के साथ पुनः प्रदर्शन दिये। इनमे नटों, जालोर के ढोल नर्तकों एवं तेरहताली तथा शेखावाटी की कच्छी घोड़ी के प्रदर्शन अधिक चित्ताकर्षक थे।

लोक-कला प्रदर्शनी प्रात ८ से रात को १० बजे तक खुली रहती थी और तारीख १६ मई तक बराबर खुली रही। इसमे राजस्थान के लोक वाद्य, पाबूजी की फड़, आदिवासियों के अलंकरण, वेशभूषाओं, चित्रों, भित्ति-चित्रों एवं नकशों तथा अन्य सांस्कृतिक सामग्री का अभूतपूर्व प्रदर्शन था।

तारीख १५ मई को रात्रि मे फिल्मे और लोक गीत निःशुल्क प्रस्तुत किये गये। ये फिल्मे जनसाधारण एवं पिछड़ी जातियों के लोक जीवन के सम्बन्ध की थी। लोक नृत्यों की फिल्मे भी दिखाई गई। राजस्थान के प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय गीत जो कोटा, शेखावाटी, बीकानेर, जैसलमेर आदि से रेकार्ड किये गये थे वे भी सुनाये गये।

तारीख १६ को गुजरात की 'ब्रजलीला' दिखाई गई। पात्रों की पोशाके बड़ी आकर्षक थी और उतना ही सुन्दर उनका नृत्य था। इसमे कृष्ण और गोपियों एवं गोपसखाओं के सुखद जीवन की झाँकी थी। इसमे फागुन नृत्य भी दिखलाया गया।

इस प्रकार राजस्थान मे यह आयोजन अपने ढंग का अनोखा और सफल सिद्ध हुआ। सम्बन्धित सभी क्षेत्रों से भारतीय लोक कला मडल के इस आयोजन की सराहना की गई।

---

[५]

तुर्रा कलंगी के खेल

[लेखक—श्री देवीलाल सामर]

[राजस्थान के तुर्रा कलगी के उद्गम और विकास के सम्बन्ध मे इस लेख मे सम्यक प्रकाश डाला गया है। तुर्रा कलगी का साहित्य भी बडा समृद्ध है। शेखावाटी के एक प्राध्यापक इस पर डाक्टरेट के लिए थिसिस लिख रहे हैं। तुर्रा कलगी काव्य और नाट्य और सगीत का एक अपूर्व मिश्रण है। इस खोजपूर्ण लेख द्वारा इस विषय की प्रथम जानकारी पाठको की सेवामे प्रस्तुत की जाती है। —सम्पादक]

राजस्थान मे चित्तोड़ के पास तुर्रा और कलंगी के खेलों की बड़ी सुन्दर परम्परा आज भी विद्यमान है। अन्य प्रचलित ख्यालों से इसकी शैली इतनी भिन्न है कि अनायास ही सबका आकर्षण इस नृत्य-नाट्य को देखने मे होता है। लछीराम, नानू और दूलिया के खेलों से इसके खेल अधिक मनोरंजक और सामाजिक महत्त्व के होते हैं। आज से लगभग ३०० वर्ष पूर्व तुरन गिरी और शाह अली नामक दो संत अपने देश मे हुए। इनका निवास स्थान दिल्ली और आगरा के आसपास था। तुरनगिरी शिव के और शाह अली शक्ति के उपासक थे। शाह अली मुसलमान होते हुए भी शक्ति की पूजा करते थे। दोनों ही संतों के असंख्य अनुयायी थे। वह समय ऐसा था जबकि भारतवर्ष के हिन्दू और मुसलमानों के बीच भेदभाव और वैमनस्य इतने अधिक बढ़ गये कि

इनका एक दूसरे के साथ रहना कठिन होगया, एक दूसरे के धर्म पर आक्षेप करना और एक दूसरे को नीचा दिखलाना एक सामान्य बात हो गई। देश का सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर रसातल तक पहुँच गया। ऐसे ही समय हिन्दू-मुसलिम एकता स्थापित करनेवाले संतों की परम्परा हमारे देश मे चल पड़ी, जिन्होंने इस प्रवृत्ति को रोकने की काफी कोशिश की, तुरनगिरी और शाह अली इसी परंपरा के बहुत बड़े अनुयाई होगये। उस समय न केवल हिन्दू और मुसलमानों मे ही भेदभाव जागृत हुआ वरन् हिन्दुओं के पारिवारिक, सामाजिक और जातीय भेदभाव इतने बढ़ गये कि पारस्परिक लड़ाई-झगड़ों का वातावरण कटु से कटुतर बनता गया। शिव, शाक्त, वैष्णव तथा जैन धर्मों के आपसी भेदभाव बढ़े। शिव और उनकी शक्ति अथवा शाकृत धर्म के बीच मे भी बड़ा भारी झगड़ा चल पड़ा। तुरनगिरी और शाह अली ने इसी झगड़े को मिटाने का भागीरथ प्रयत्न किया। शिव के भक्त अपने को तुरनागरि के अनुयाई समझने लगे। उनकी मान्यता थी कि तुर्रा शिव का प्रतीक है। इसी प्रकार शाह अली शक्ति के उपासक बने और उन्होंने कलंगी को प्रतीक माना। तुरनगिरी ने जो कि ज्ञाति के गुसाईं थे शिव की प्रशंसा में अनेक कवित्त लिखे और शाह अली ने शक्ति की उपासना-स्वरूप अनेक गीत रचे। दोनों संतों की प्रतिदिन महफिल जुड़ती और शिव-शक्ति के कवित्त की झड़ियां लग जाती। तुरनगिरी शिव की तारीफ मे जो पद कहते उसका उत्तर तुरन्त ही शक्ति की प्रशंसा के स्वरूप मे शाह अली देते थे। यहां तक नोबत हो आई कि दोनों ही संत एक दूसरे के उत्तर मे आशु कवि हो गये और उनके सहस्त्रों अनुयाइयों ने उनकी परम्परा का अनुसरण किया। शिव और शक्ति के संबंध मे कोई भी तर्क ऐसा नहीं बचा कि जिन पर कवितायें न की गई हों। तुर्रा कलंगी के काव्य मे समस्त हिन्दू धर्म का दर्शन समाविष्ट होगया।

इन काव्य-गोष्ठियों का उद्देश्य भेदभाव उत्पन्न करना नहीं था, वरन् शिव और शाक्त धर्मो के बीच जो वैमनस्य प्रचलित हुआ उसको मिटाना था। तुर्रा और कलंगी के अनेक दङ्गल देश के प्रमुख प्रमुख नगरों मे स्थापित हुए और उन्होंने एक दूसरे के दिल को जोड़ने मे बड़ा महत्त्व का काम किया। तर्क वितर्क जो कविताओं के द्वारा होता था उससे तनिक भी झगड़ने का आशय नही था, बल्कि एक दूसरे के भेदभाव को

मिटाना था। दोनों ही दङ्गल के भागीदार प्रेमभाव से तर्क-वितर्क मे सम्मिलित होते और उत्कृष्ट कोटि की रचना करके साहित्य की गौरववृद्धि करते थे। यह परम्परा अनेक वर्ष तक चलती रही और धीरे-धीरे उसका प्रवेश मध्यभारत और राजस्थान मे हुआ। नीमच, मंदसौर, जावरा, चित्तोड़ और घोसुन्डा के कुछ साहित्यप्रेमी विद्वानों ने भी तुर्रा कलंगी के दङ्गल अपने नगरों मे स्थापित किये। इन दङ्गलों मे किसी प्रकार की जाति, पॉति, धर्म, व्यवसाय और ऊंच-नीच का भेदभाव न था। बनिये, ब्राह्मण, मुसलमान, कायस्थ और क्षत्रिय सभी प्रेम से इन काव्य गोष्ठियों मे भाग लेते थे और उत्कृष्ट काव्य रचना करते थे। धीरे धीरे समय के परिवर्तन के साथ तुर्रा कलंगी के विषयों मे अनेक दूसरे विषय भी समाविष्ट होगये और दार्शनिक काव्य के स्थान मे अनेक सामाजिक विषयों पर काव्य रचनाएं होने लगी। यहां तक कि ये दार्शनिक स्थल काव्य-चमत्कार और एक दूसरे को नीचा दिखाने के स्थल बन गये। कई दिनों तक ये काव्य गोष्ठियां बिना किसी व्यवधान के चलती रही। लोग अपने अपने दङ्गल के साथ किसी बाग-बगीचे या अखाड़े के पास अपने पोथी पन्नों के साथ रात दिन जमकर बैठ जाते, भंग छानते और काव्य रचना मे प्रवृत्त होजाते। खान-पान, घर-बार, साथी सगी, नींद-आराम सबका ख्याल छोड़कर एक दूसरे को काव्य मे परास्त करने के लिये तत्पर रहते, यदि कोई किसी प्रश्न का उत्तर कविता के रूप मे ठीक से नही दे पाता, और अन्य साथी भी हार मान लेते तो दूसरे दङ्गल वाले उसके पोथी-पन्ने, बोरियां-बिस्तर, भांडे-बरतन सब जब्त कर लेते।

यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई कि इन दंगलों का जो मूल उद्देश्य था वह कहीं धरा रह गया और केवल लड़ाई झगड़े और मनो मालिन्य का ही वातावरण शेष रह गया। यहॉ तक कि कभी-कभी इन दंगलों में पुलिस का भी विचरण आवश्यक हो गया। नीमच, चित्तोड़ और घोसुन्डा में आज भी ऐसे आशु कवि विद्यमान हैं जिनके पास मनों वजन की पोथियां, तुर्रा कलंगी काव्य की भरी पड़ी हैं।

तुर्रा कलंगी का आध्यात्मिक पक्ष

तुर्रा के वर्तमान प्रसिद्ध लेखक श्री चैनराम गौड़ लिखते हैं—

है आद शक्ति अवतार हमारी कलंगी।

सब सृष्टि रचावनहार हमारी कलंगी ।।
है औ३म् शब्द औकार हमारा तुर्रा ।
तैसी शक्ति का सरदार हमारा तुर्रा ।।
यह शक्ति रूप दुनिया मे अजर अमर है ।
शक्ति से बने जड़ चेतन चर अचर हैं ।।
है अखंड चेतन तुर्रा तारन हारा ।
उच्च उसी के पाये विश्व बसाया सारा ।।

अथवा तुर्रा शिव का प्रतीक है, जिसने माया को रचकर सारे विश्व की सृष्टि की । तुर्रा को ओ३म् शब्द का प्रतीक भी माना है और उसको आविर्भूत शक्ति का सरदार भी माना है ।

है आदि अन्त से कलंगी अखन्ड कुंआरी
यहीं जग जननी है तुर्रे की यह नारी
कलंगी का खसम नहीं तुर्रा सुत ब्रह्मचारी
फिर भी कलगी का भरतार हमारा तुर्रा ।

उक्त कवितायें रहस्यवाद की भी पर्याप्त झलक देती हैं । कलंगी को अखंड कुंआरी और तुर्रे को बाल ब्रह्मचारी मानते हुए भी तुर्रे को कलंगी का पति माना है । उसके गर्भ से समस्त विश्व-शक्ति का जन्म करवाया है । ब्रह्म और माया के इस शाश्वत और विचित्र सम्बन्ध को लेकर कवियों ने समस्त तुर्रा कलंगी का साहित्य रच डाला है ।

माया शक्ति ब्रह्म है शिवजी शक्ति-पति अवधूत ।

इस पद्य मे बतलाया है कि ईश्वर की माया ही शक्ति है और शिवजी शक्ति के पात्र हैं । अत शक्ति का कार्य संसार को बनाना और शिव का कार्य उसे शक्ति प्रदान करना है ।

नारायण से कमल, कमल से ब्रह्म रूप हम धारा ।
ब्रह्मा से शिव शक्ति बन कर विश्व बसाया सारा ।।

तुर्रा के लेखक श्री चैनराम ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश की एकता को उक्त पद मे बड़े सुन्दर ढंग से निभाया है, भगवान विष्णु की नाभी से कमल की उत्पत्ति, कमल से ब्रह्मा की और ब्रह्मा से शिव की शक्ति का उदय बतला कर समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास अंकित किया है ।

अन्य कई लेखकों ने तुर्रा को भूमि का भार उतारने के लिये विविध युगों मे विविध रूप में अवतरित किया है । त्रेता में इसी तुर्रा ने

भगवान राम का, द्वापर मे श्री कृष्ण का तथा कलियुग मे तुर्रा नाम से अवतार धारण किया और समस्त विश्व के दुखों का हरण किया है।

इसी प्रकार कलंगी ने त्रेतामे भगवान राम की संगिनी सीता, द्वापर मे श्री कृष्ण की चिर संगिनी राधा और सत युग मे शिवजी के संग पार्वती तथा कलियुग मे तुर्रा की चिर संगिनी कलंगी का रूप धारण किया और अपनी विविध लीलाओं से समस्त सृष्टि को मुग्ध किया।

इन्हीं विविध भावनाओं से ओत प्रोत तुर्रा कलंगी विषयक असख्य कवितायें रची गई और सैकड़ों नर नारियों के कंठों की हार बनी।

आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व सर्व प्रथम घोसुन्डा में तुर्रा-कलंगी के दंगलों ने एक विचित्र सा पलटा खाया। इन दंगलों में कविता की जगह गीतों ने साम्राज्य जमाया और अच्छे अच्छे रग-रँगीले, तान तराने वाले, माने जाने वाले, नाच स्वांग करने वाले और मन चले नौजवानों ने तुर्रा कलंगी के दंगलो को अपने रस मय गीतों और शृंगार भरे कथानककों से परिपूरित किया। यही काव्य के दंगल नाटय-दंगल मे परिवर्तित हुये और ऐसे अनेक गीत मय नाटय रचे गये जो ऊंचे-ऊंचे रंगमच पर खेले जाने लगे। तुर्रा के दंगल अलग और कलंगी के दंगल अलग रहे। एक दूसरे की देखा देखी दोनो ही दंगलों ने ख्याल रचे और बड़ी लगन के साथ खेला। यहां तक हो गया कि यदि एक दंगल ने किसी एक विषय पर खेल रचा तो दूसरे दंगल ने भी उसी विषय पर दूसरे ढंग से खेल लिख डाला। यदि एक दंगल ने एक मुहल्ले मे खेल खेला तो दूसरे ही दिन दूसरे दंगल वाले ने दूसरे मुहल्ले मे उसी विषय के खेल को बड़ी धूम धाम से खेल कर उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। इन प्रयत्नों मे भी शुरू शुरू मे किसी प्रकार का मन-मुटाव नहीं था। रात को जम कर खेल खेलते। एक दूसरे के खेल को तत्पर होकर देखते, एक दूसरे को वेशभूषा पहिनाने, रंग मंच बनाने आदि मे मदद देते और दूने उत्साह से खेल करते। ये दंगल साहित्य, कला और सगीत के विकास के लिये बड़े ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए।

यह परंपरा भी काफी समय तक कायम रही और सुभद्राहरण, सीता स्वयम्वर, रुकमणी मंगल, उषा चरित्र, कृष्णलीला, भरथरी हरि, हरिश्चन्द्र, रूप बंसत, त्रिया चरित्र जैसे उत्कृष्ट काव्य लिखे और खेले गये, परन्तु बाद मे इन खेलों मे भी दंगल बाजी की प्रतिस्पर्धा, एक दूसरे को

नीचा दिखाने की भावना इतनी बलवती होगई कि लोग गाली गलोज पर आगये और सैकड़ों रुपये एक दूसरे को बुरा दिखाने के लिये इन खेलों पर खर्च होने लगे। घोसुन्डा, चित्तोड़ और नीमच मे आज भी तुर्रा कलंगी के सिद्धहस्त खिलाड़ी और कवि मौजूद हैं जिनमे चित्तोड़ निवासी चैनराम हलवाई, नीमच का गुलाम उस्ताद, घोसुन्डा का शंकरलाल और नीमच का सोनी जयदयाल और ठाकुर ओंकारलाल प्रसिद्ध हैं।

तुर्रा और कलंगी के दंगलों मे पारस्परिक वैमनस्य बढ़ जाने पर भी उसमें सांप्रदायिक भावना का तनिक भी समावेश नहीं हुआ। दोनों ही दंगलों मे सभी जातियों के लोग विद्यमान थे। जब तक तुर्रा कलंगी के दंगल काव्य-रचनाओं तक ही सीमित रहे तब तक वैमनस्य की मात्रा बहुत कम थी परन्तु जब से उन्होंने ख्याल का रूप धारण किया उनमें पारस्परिक भेद-भाव, स्पर्धा और एक दूसरे को नीचा दिखाने की भावनायें बढ़ गई। काव्य दंगल अपने दायरों ही मे काव्य रचते रहते थे। मगर उनका ख्याली रूप हो जाने के बाद हजारों लोग उनसे संबंधित हुए और सब प्रकार के अच्छे-बुरे प्रभावों से वे मुक्त नही रह सके। यही कारण था कि तुर्रा कलंगी के खेलों में सब प्रकार की रगीनियां और सांसारिकता का समावेश हुआ। यह वैमनस्य इतना बढ़ गया कि तुर्रा कलंगी का विवाह नामक खेल लिखने की आवश्यकता होगई, इस खेल मे यही भाव दर्शाया गया है कि तुर्रा कलंगी मे कोई भेद-भाव नहीं है। दोनों ईश्वर और माया के रूप मे हैं और उनके नाम पर लड़ना, झगड़ना और अखाड़े-बाजी करना महा मूर्खता का काम है।

खेलों की विशेषता

खेलों की विशेषता—तुर्रा और कलंगी की शैलियों में कुछ विशेष अन्तर नहीं है केवल तर्क और दर्शन शास्त्र की दृष्टि से दोनों ही दल परम्परा से अलग ही रहे और अपने कर्तब दिखलाते रहे। तुर्रा कलंगी के खेलों के लिये एक ऊंचा मंच बनाया जाता है जिसको फूल, पत्तों और रंगीन कपड़ों से बड़े सुन्दर ढंग से सजाया जाता है। यह मंच जमीन से लगभग पांच फीट ऊंचा होता है। मंच के दायें-बायें दो ऊंचे झरोखे बनाये जाते है जिनसे नीचे उतरने के लिये बांस की सीढ़ियां लगादी जाती हैं। एक झरोखे से पुरुष पात्र गीत गाते हुए तथा अभिनय करते

हुए नीचे उतरते हैं और दूसरे से स्त्री पात्र। मंच के ऊपर खेल के लेखक और प्रमुख गायक बैठ जाते है। मुख्य मच के बाईं तरफ एक छोटा मंच और बनाया जाता है जिस पर साज बजाने वाले बैठते हैं। इन सब मचों को बनाने मे जनता काफी खर्च करती है और उसे सजाने में विशेष रुचि लेती है। तुर्रा और कलंगी का खेल पेशेवर कलाकारों का खेल नहीं है। लोग शौक से खेल करते हैं और आस पास की जनता को आमंत्रित करके उनका नि शुल्क मनोरंजन करते हैं। ये खेल थोड़े से दिनों मे इतने अधिक लोक प्रिय होगये कि सैकड़ों की तादाद में जनता दूर-दूर से इन खेलों को देखने के लिए एकत्रित होने लगी। गांव के शौकीन गाने-नाचने और बजाने वाले इन खेलों मे भाग लेते और उनका मनोरंजन करते हैं। सारी रात भर खेल चलते हैं और जनता तन्मय होकर सुबह तक इन खेलों की देखती रहती है। पात्रों को सभी गीत कंठस्थ याद होते हैं और यदि कभी अभिनय करते समय कोई गीत भूल भी जाय तो रंगमंच पर बैठा हुआ लेखक–समुदाय उन्हें मदद कर देता है। ये खेल भी अन्य ख्यालों की तरह गीत-प्रधान खेल हैं और नृत्य की भाव भंगिमाये बहुत ही सरल और साधारण होती हैं। स्त्रियों का भाग भी पुरुष ही अदा करते हैं। पात्र झरोखे से उतरकर मुख्य रंगमंच पर आते हैं और गीतों में एक दूसरे से संवाद करते हुये नृत्यमयी मुद्राओं मे अपनी अपनी जगह पलटते हैं। इन खेलों की एक मुख्य विशेषता यह है कि संगीत के साज, गाने वालों के साथ में न बजकर गीत समाप्त होने के बाद बजते हैं। साजों मे सारंगी, नक्काड़ा ही प्रधान है। साज बजाने वाले पेशेवर कलाकार हैं, शौकिया कलाकार नही। ये साज बजानेवाले नीमच के रहने वाले हैं और यह अपने हुनर मे इतने होशियार हैं कि इनके बिना अड़ोस-पड़ोस मे कोई भी तुर्रा कलंगी का श्रेय नहीं ले सकता। नीमच वाले गुलाम उस्ताद और बरकतअली बड़े अच्छे साजिन्दे मौजूद हैं। कंडेरा, जावद, नीमच और मल्हारगढ़ मे भी तुर्रा कलंगी के अच्छे अच्छे खिलाड़ी आज भी हैं। घोसुन्डा के मुसलमान कागदियों से तो इन खेलों मे आज भी कोई होड़ नही लगा सकता। ये कलंगी के अनुयायी हैं और कलंगी की शैली के ही खेल रचते है। दुर्भाग्य से पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के बनने के समय मे कागदिये पाकिस्तान चले गये

और अपने साथ कलंगी की सुन्दर से सुन्दर परम्पराओं को भी ले गये। हमीर वेग और ख्वाजा अली, दो बड़े मर्मज्ञ कवि घोसुन्डे मे होगये जिन्होंने कलंगी की तारीफ मे अनेकों ग्रन्थ लिख डाले और रगमंच पर जनता का मनोरंजन किया।

नीमच तो तुर्रा कलंगी का सर्व श्रेष्ठ केन्द्र बन गया है। जयद्याल नाम के एक प्रसिद्ध सोनी तुर्रा के बहुत बड़े अनुयायी और लेखक होगये हैं। सोनी होते हुए भी इनकी प्रकृति संत के समान थी और जन्म पर्यन्त अपने व्यवसाय मे रुचि न लेकर तुर्रा दंगलों मे अपना जीवन व्यतीत किया। सोनी जयद्याल तुर्रा के कई खेलों के लेखक हैं, जिनकी किताबें आज भी बड़ी श्रद्धा से लोग खरीदते है और उनके आधार पर खेल करते हैं। नीमच मे इन खेलों का लोगों मे इतना शौक था कि आये दिन साधारण से साधारण अवसर पर भी तुर्रा कलगी के खेल नीमच के जन-जीवन में व्याप्त होगये। रतन चौक और माणक चौक क्रमश कलंगी और तुरे के खेलों के लिये दो प्रमुख स्थान सदा के लिये नियत हो गये। माणक सेठ जिनके नाम से चौक प्रसिद्ध है, तुर्रे के दंगल के अध्यक्ष थे। उनका अपना एक संगठन था जो समय-समय पर तुर्रे के खेलों का आयोजन करता और कलंगी वालों को मुहतोड़ जवाब देता। इसी प्रकार रतन जिनके नाम से रतन चौक प्रसिद्ध है, कलगी वालों के दंगल के अध्यक्ष थे। पहले ये दोनों ही दगल केवल काव्य-गोष्ठियों के रूप मे प्रचलित थे किन्तु बाद मे चित्तोड़-घोसुन्डा की परपरा के आधार पर ये रगमचीय खेलों मे परिवर्तित हुए। दोनों ही दंगलों मे सैकड़ों की तादाद मे सदस्य थे, जो काव्य और कला के माध्यम से एक दूसरे को नीचा दिखाने मे प्रयत्नशील रहते थे। यदि माणक चौक मे तुर्रे का खेल हुआ तो दूसरे ही दिन रतन चौक मे कलंगी के खेलों से करारा जवाब दिया जाता। एक वह समय था जब सारा ही नीमच तुर्रा और कलंगी के अखाड़ों मे विभाजित था।

जयद्याल तुर्रा कलगी के खिलाड़ियों मे एक चमकते हुए सितारे थे। उनके बारे मे एक कथा प्रसिद्ध है कि एक समय उन्होंने पद्मावती की कथा नामक एक खेल लिखा। उनके दङ्गल का एक अत्यन्त प्रतिभाशाली खिलाड़ी मोतीलाल कही चला गया। उसे ढूंढना उनके लिये अनिवार्य होगया क्योंकि उसके बिना उनका नया खेल फीका पड़ जाता और कलंगी

वाले उनसे बाजी ले जाते। जब उसे ढूंढने का कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ तो वे स्वयं योगी बने और मन्दिर में जाकर बैठ गये, उनके रस भरे गीतों की ध्वनि सुनकर मोतीलाल लुभाता हुआ मन्दिर मे आया। वे उसे लेकर नीमच आये और बड़े ठाट से उन्होंने पद्मावती का खेल रचा। शिव रात्रि को भगवान शिव की स्तुति करते हुये उनका देहावसान हुआ। उन्होंने कुल ३४ ख्याल रचे।

नीमच मे चौहान ओंकारसिंह नाम के एक बहुत बड़े कलंगी लेखक और खिलाड़ी होगये हैं। इन्होंने भी अपनी प्रतिभा द्वारा कलंगी की ख्याल शैली में चार चांदे लगा दिये। तुर्रा और कलगी पहिले बैठक के काव्य थे और जैसा कि ऊपर कहा गया है वे बाद मे खेल के काव्य मे परिवर्तित हुए। आज से पचास वर्ष पूर्व धनाधन नामक एक कवि हो गये जिन्होंने सबसे पहले तुर्रे के काव्य को मांच के खेलों मे बदला। उनके चार शिष्य थे। उनमे से दो कलंगी के अनुयायी होगये और दो तुर्रे के।

आज तो सर्वत्र ही इन खेलों मे शिथिलता आ गई है। आज की अनेक समस्याओं ने खिलाड़ियों के दिलों को तोड़ दिया। अशिक्षा और जहालत ने इन दो उत्कृष्ट परंपराओं को पारस्परिक द्वन्द और वैमनस्य मे बदल दिया है। आधुनिक सिनेमा ने भी तुर्रा-कलंगी के खेलों पर बड़ी चोट की है।

तुर्रा कलगी के ख्याल प्रचलित ख्यालों से बिलकुल ही भिन्न हैं। वेशभूषा, गीतों की धुने, रंगमंच की बनावट, सजावट, कविता की बंदिश और पात्रों की भाव भंगिमाओं में एक दम विचित्रता है। शौकिया कलाकारों की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये इसके बराबर कोई दूसरा प्रबल माध्यम नहीं है। तुर्रा कलंगी के खेलों ने साधारण और अशिक्षित जनता मे सुरुचिपूर्ण साहित्य, कला और संगीत का प्रचार किया है। इन खेलों में एक महत्त्व की बात यह है कि कहीं भी इनमे अश्लीलता और भद्दे पन की गुंजायश नहीं है। ऊंचे-नीचे, छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी इनमे रुचि पूर्वक भाग लेते हैं और अपना और समाज का मनोरजन करते हैं।

---

[६]

राजा गोपीचंद का एक प्राचीन गीत

लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा

[श्री अगरचदजी नाहटा के लेख सूचना और खोज-प्रधान रहते है। भरथरी के लोक गीत की भूमिका मे आपने राजस्थान के लोक गीतो के साहित्य एव लोक गीतो पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। विश्वास है कि श्री नाहटाजी लोक गीतो के इस अध्ययन को चालू रख कर प्रधान राजस्थानी लोक-गीतो का पूर्व इतिहास शीघ्र ही प्रकाश मे लाने का सुयश सम्पादित करेगे।

—सम्पादक]

राजस्थान का लोक साहित्य बहुत समृद्ध है। लोक गीतों की मधुर ध्वनि जीवन को उल्लासमय बनाती ही है, पर लोक काव्य, भजन, एवं कथा-कहानियाँ भी आनन्द मे सराबोर करने मे कमी नही रखती। लोक-संगीत राजस्थान का अपना मौलिक महत्त्व रखता है। ऊँची और नीची और लंबी रागणियाँ जैसी राजस्थानी लोक गीतों मे मिलती हैं, अन्यत्र दुर्लभ हैं। पर अभी तक लोकगीतों की स्वर लिपि और उनके ध्वनि-संगीत सम्बन्धी कार्य विशेष नही हो पाया। भारतीय लोक-कला मण्डल इस दिशा मे प्रयत्नशील है—जान कर हर्ष हुआ। आज के सिनेमा की बहुत सी तर्जे भी राजस्थानी लोकगीतों से अनुप्राणित हैं। इस दिशा मे जितना गहरा अन्वेषण और अध्ययन होगा, राजस्थान के लोक साहित्य का ध्वनि और संगीत की दृष्टि से जो निराला महत्त्व है वह अधिकाधिक प्रकाश मे आयेगा।

राजस्थानी लोक गीत अभी तक बहुत से संग्रहीत हो चुके हैं और उनके अनेक संग्रह ग्रंथ राजस्थान से ही नही उत्तर प्रदेश, कलकत्ता, बम्बई आदि से भी प्रकाशित हुए हैं। पर उनमे से अधिकांश का दृष्टिकोण व्यवसायिक रहा है। पांच-सात ग्रंथ ही इससे बरी हैं। अभी तक राजस्थानी लोक गीतों के जो भी सग्रह ग्रथ प्रकाशित हुए मेरी जानकारी मे हैं, उनका परिचय वीणा और परम्परा मे प्रकाशित अपने लेख में दे चुका हूँ। अप्रकाशित लोक गीतों की संख्या तो हजारों

पर है। श्री पुरुषोत्तम मेनारिया के कथनानुसार इनके पास बारह हजार राजस्थानी लोक गीत सग्रहीत हैं। इससे उनकी विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है।

लोक गीतों के संग्रह का कार्य अभी तक जो कुछ हुआ है वह अधि-कांश स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों का है। पर, पुरुषों के द्वारा भी विविध प्रकार के सैकड़ों छोटे-मोटे लोकगीत गाये जाते हैं। उनकी ओर अभी जैसा चाहिये ध्यान नहीं गया। पुरुषों मे गांवों और शहरों में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोकगीत प्रचलित हैं। इसी तरह भिन्न-भिन्न जातियों और विभिन्न कार्य करने वाले वाले लोगों के गीत भी अलग प्रकार के हैं। कूओं पर 'वारा' लेते हुए माली एवं अन्य ग्रामीण लोग दोहों की जो लंबी टैर खींचते हैं उसका संगीत अनोखा है, तो खेतों मे काम करने वाले जाट किसान तेजा का गीत गाते हैं उसका माधुर्य और संगीत निराला है। फाल्गुण मे 'डफ' और 'चंग' के साथ धमाले गाई जाती हैं, और मेलों, गोठों, बरसात मे अन्य प्रासंगिक गीत। देवी देव-ताओं के गीत, भजन के अतिरिक्त रात्री जागरण करते समय जम्मों में रामदेवजी, पाबूजी, आदि के भजनों के साथ कई अन्य संतों एवं कवियों के भजन तदूरे की ध्वनि के साथ रात भर गाये जाते हैं। भोपे आदि भैरूजी के गीत और रावण हथे पर डूंगजी जवारजी का रस प्रद लबा-गीत गाते हैं। इसी प्रकार जीणमाता का गीत, पाबूजी के पवाड़े, निहाल दे के पवाड़े आदि २ अनेक लोक काव्य लोग गाते हैं। ढोली, दमामी आदि पेशेवर जातियों के गीत, रागिणे व वाद्ययंत्र अलग अलग है। गोपीचन्द भरथरी आदि के गीत गाकर जोगी ज्ञान और वैराग्य का प्रचार जन-जन में करते हैं।

कई लोक-गीत स्त्री और पुरुष दोनों गाते हैं, पर उनकी ध्वनि, लय, और कंठ-माधुर्य की विभिन्नता से दोनों की रागिणी मे अन्तर पड़ जाता है। कई गीत प्राय पुरुष ही गाया करते हैं। जैसे, रायधण, सोढो सूमरो, ऊमरलो, मणिहारो, आयल गौरी। रमत के गीत पुरुष ही गाते हैं। उनका कुछ संग्रह बीकानेरी गीत संग्रह में हुआ है। विवाह में श्लोक बोलने का रिवाज है वे भी जनमुख पर आकर लोक-काव्य से अन्तर्युक्त हो जाते हैं। बीकानेर में कुछ वर्ष पूर्व बड़े-बड़े प्रतिष्ठित सेठ साहूकार भी जवान और बुढ़े मिलकर डॉडिया और घूमर खेलते थे। उस

समय गाये जाने वाले गीतों का संग्रह भी बीकानेरी गीत सग्रह में हुआ है।

राजस्थानी लोक-साहित्य में विशेषतया लोकगीतों और कथाओं की प्राचीनता और उनमे हुए परिवर्तन का पता लगाने के साधन जितने उपलब्ध हैं उतने अन्य किसी भी प्रान्तीय लोक साहित्य मे नहीं। जैन मुनियों ने लोकगीतों की तर्ज या देशियों मे अपनी रचनाएं, ढाले, गीत, स्तवन, सझाये आदि बनाए और वे किस प्रकार से गानी चाहिए इसका निर्देश करते हुए लोक प्रसिद्ध उस गीत की एक आद्य पंक्ति भी प्रारम्भ में लिख दी कि हमारी यह रचना अमुक लोक गीत की तर्ज मे गाई जाय। इससे बहुत से लोकगीत जो नष्ट होगए हैं उनकी जानकारी मिलने के साथ ही साथ बहुत से प्रचलित गीतों की प्राचीनता का भी पता लग जाता है। मैंने उमादे भटियाणी, लाखा फूलाणी, आदि के गीतों की प्राचीनता का इसी प्रकार पता लगाया है। सौभाग्य से ३००-४०० वर्ष और ५०० वर्ष तक के कई लोकगीत तो पूरे के पूरे, जैन भण्डारों के फुटकर पत्रों मे लिखे हुए मिल गये हैं और ऐसे कुछ गीतों को मैंने अपने लेखों में प्रकाशित भी किए हैं। प्रस्तुत लेख मे प्रकाशित किया जाने वाला राजा गोपीचंद का गीत भी उन्हीं मे से एक है। इस गीत के सम्बन्ध मे विशेष विचारणा अजंता वर्ष ७ अंक ८ में प्रकाशित मेरे लेख मे की जा चुकी है।

१७०० वी शताब्दी का एक रहस्यमय लोकगीत संस्कृत टीका के साथ लिखा प्राप्त हुआ, जिसको टीका और अर्थ के साथ अजन्ता, ७-८ में प्रकाशित किया जा चुका है। हमारे ख्याल से वह गीत ४००-५०० वर्ष पुराना है और उसी तरह यह गोपीचन्द का गीत भी। उमादे भटियाणी का गीत १००० वीं शताब्दी के प्रारम्भ का है और फतमल का गीत जो 'मरु भारती' मे प्रकाशित किया गया है १८ वीं शती का होगा। लाखा फूलाणी के दो-तीन लोकगीत प्रचलित थे और वे भी ४०० वर्ष से इधर के न होंगे। उनका निर्देश 'मरुभारती' मे प्रकाशित लाखा और फूलाणी की टिप्पणी मे किया है। १६०० वीं शताब्दी के भैरूजी, देवी आदि के गीत कई लिखित मिले हैं। राजस्थान के प्रसिद्ध लोक काव्य पदमा तेली के रुक्मणी मंगल के प्राचीनतम हस्त लिखित ग्रन्थ हमारे संग्रह में हैं। १८०० वीं और १६०० वीं शताब्दी मे

उसका किस तरह विकास हुआ इसका भी पता लग चुका है, जिसके सम्बन्ध में स्वतंत्र लेख प्रकाशित किया जायगा।

गोपीचन्द भरथरी के कई प्रकार के गीत राजस्थान में प्रसिद्ध हैं। उनका विशिष्ट संग्रह श्री मनोहर शर्मा, बिसाऊ ने करके 'विद्या बिहार' पत्रिका मे लेख-प्रकाशित किया है। इससे पूर्व हमे राजस्थान के महाकवि समयसुन्दर के कथा कोष ग्र थ मे गोपीचन्द का एक गीत उनका स्वयं का लिखित प्राप्त हुआ था, जिसे हमने अजंता मे प्रकाशित कर दिया था। समयसुन्दरजी का समय सं० १६४० से १७०० तक का है अत यह गीत करीब ४००-५०० वर्ष पुराना अवश्य है। हमे अभी जयपुर के तेरहपंथी दिगंबर बड़े भण्डार मे संतवाणी संग्रह का एक गुटका देखने को मिला। गोपीचन्द का वही लोकगीत कुछ पाठ भेद और कई अतिरिक्त पद्यों सहित प्राप्त हुआ। यह गुटका सं० १७८६ का लिखित है। अत दो सम्भावनाये हो सकती हैं। या तो समय सुन्दरजी ने इस गीत की पूरी पंक्तियां उद्धृत नहीं की, जितनी सुनी या जितनी याद थी उतनी लिखदी जिससे कई पंक्तियां छूट गई। या पीछे से कुछ और पंक्तियां उसमे जोड़ दी गई। जैसा कि लोकगीतों मे प्राय हुआ करता है। अन्य सम्भावना यह भी हो सकती है कि भिन्न स्थानों मे भिन्न गायकों के मुख मे उसका पाठ भेद व पंक्तियां न्युनाधिक रही हो।

राजा गोपीचन्द का गीत

राग—रामकली[1]

बाहुड़ौ[2] नै बाहुड़ौ गोपीचन्द राजा, बाहुड़ि धौलागिर[3] आवौजी।
इच्छा नै भोजन मन चित्या राजा, भाग भगति सौं पावौजी॥ टेक॥
पालकि निद्रा नावै रे राणी, म्हारै मनि राज न भावै जी।
जोग जुगति नौ राज हमारै, अविचल कंधू थावैजी॥१॥
अगर चंदण री मंढी बधांऊं, सोना ना तुमने तूंबा जी।
कहौ तौ रुपाना[4] पत्र घड़ाऊं, सोना[5] ना सीगी नादं जी॥२॥
कूर कपूर तुम्हे जीमता हो राजा, भगरड़ी किन खास्यौ जी[6]।
ऊपरि पाना ना बीड़ा आरोगता, बेली ना पान किम खास्यौ जी॥३॥
कूर कपूर म्हारै सास उसासं, कुरकट अमृत प्यालं जी।
ग्यान ध्यान ना पान हमारै, सुबुद्धि खिनियापालंजी॥४॥

१ रामगिरी, २ बुहडउ, ३ धउलाहर, ४ सोना, ५ रूपा, ६ भासइजी।

सौड़ि[७] तुलाई तुम्हे पौढता हो राजा, सांथरड़ै किम सोस्यौ जी।
गींद सिरांणै नै सब दिसी सेवग, खपरड़ै किम खास्यौजी ॥५॥
सांथरि सोस्यां नै राणी खापरि खास्यां, इंट उसीसै देस्यां जी।
सौड़ि तुलाई म्हारै सतगुर बांणी, भोंमी सज्या करिस्यां जी ॥६॥
कौण तुम्हारा राजा चरण पखालिस्ये, कौण करै तत बातं जी।
कौण तुम्हारी सेझ पाथरिस्यै, कौण पूरविसी भात जी ॥७॥
गंगा हमारा राणी चरण पखालिसी मनसा करै तत बांत जी।
कंथा अम्हारै सेझ पथरिसी,[८] प्रिथी[९] पूरविस्ये भांत जी ॥८॥
सोलासै रांणी बारा सै कन्यां, तेहनौ निसासड़ौ पड़िस्ये जी।
जेहनै म्हारा राजा नौ राज छुडायौ, ते तो जोगी मरज्यो जी[१०] ॥९॥
जलंध्री प्रशादै राजा गोपीचंद बोल्या, गुर नै गाली न दीज्यौ जी।
सतगुरु म्हारा मस्तक ऊपरि, और अलेरड़ा कीज्यौ जी ॥१०॥
कहै राजा गोपीचंद सुनौ री माई, सत की भिख्या देसो मैणावती माई ॥११॥
बाट घाट की थेगली मोरै पाट पटोला, मसाण की ठीकरी थाल कचोला ॥१२॥
तूटी फाटी कंथा मे फिरू उदासा, रूखा सूखा टूका रूंखे वृखे बासा ॥१३॥
धरणी पालिगड़ा साथरि सेजं, परबति मढई भोभि सुरेजं ॥१४॥
तजीला बंगाल देस मैणावती माई, जलंध्री प्रसादैं गोपीचंद चौपई गाई ॥१५॥

संगीत भी कला है। वह शास्त्रीय और देशी दो प्रकार की है। देशी अर्थात् लोकसंगीत। राजस्थान मे मध्यकाल मे संगीत कला का अच्छा प्रचार था। मेवाड़ के महाराणा कुंभा का 'संगीत राज' इस विषय का प्रमाणिक महत्त्वपूर्ण वृहद ग्रंथ है। बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह जी संगीत के बड़े प्रेमी थे। उनके आश्रित भाव मिश्र ने १०-१५ ग्रंथ संगीत के बनाये एवं जयपुर के महाराजा प्रतापसिंहजो के आश्रित संगीतज्ञों ने हिन्दी पद्य गद्य मे कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ बनाये, जिनमें 'राधा विनोद संगीत सार' अद्वितीय ग्रंथ है। यह प्रकाशित भी हो चुका है। राजस्थान के लोक संगीत का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है। संगीत की रस धार से हम सब पुन सराबोर हो जायें यही शुभ कामना है।

७ सेज, ८ पाथरिस्यइ, ९ अलख, १० निस्तान जाज्यो जी

---

[७]

गणगौर के गीत

लेखक – श्री बसन्तीलाल बम

[हमारे प्रसिद्ध त्यौहार गणगौर पर लेखक ने साहित्यिक भाषा मे अच्छी जानकारी दी है। मध्यभारत और राजस्थान के गणगौर के गीतो मे साम्य है। राजस्थान में गणगौर पर विविध गीत मिलते है। —सपादक]

हमारे लोक गीतों मे धार्मिक-पर्वों और त्यौहारो की परम्परा सजीव हो उठी है। वे हमारी सभ्यता और संस्कृति की विकसित धारा के प्राणवान प्रतीक हैं। विनाश और विध्वंस की वीभत्स दृश्यावलियां, विलास और वैभव की सुमधुर कल्पना, अतीत की स्वर्णिम आभा, और वर्तमान का सघर्षशील जीवन—इन सबको पार करते हुए आज भी वे अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। भविष्य की अटल-गहराइयों मे अवगाहन करने की क्षमता और युग-जन्य-परिस्थितियों की चट्टानों को चूर-चूर करने का साहस, आज भी उनमे विद्यामान है। वे जीवन और मरण की कगारों को काट-छांट कर उन्हें सहेजते-संवारते और सरसाते हुए आगे बढ़ते जाते हैं—अविराम, चिरन्तन।

मालवा के लोक गीतों मे भी अदम्य-उत्साह और अपार शक्ति के सागर लहरा उठे हैं। उनमें स्थानीय लोक-जीवन की रंगीन अनुभूतियों के विभिन्न चित्र भरे पड़े हैं। आज भी उनमे मालवा की मिट्टी की सौंधी-सौंधी सुगन्ध महक रही है। वे मालवा की शस्य-श्यामला-उर्वर-धरा के अनन्त-वनराजि-परिवेष्ठित असंख्य दृश्यों को अपने मे सजोए हुए हैं। उनमें मानव समाज के संघर्षमय इतिहास की कई गाथाएं अपने गौरव-शाली अतीत से गौरवान्वित हो उठी हैं।

भारतीय लोक गीतों के अथाह सागर मे आज बहुमूल्य रत्नराशियों के ढेर दबे पड़े हैं, जिनका न तो अब तक परीक्षण-निरीक्षण होपाया है और न मूल्यांकन ही। मालव मे भी ऐसे गीतों का बाहुल्य है। 'संजा पूजा' 'गरबा', 'घल्या', 'गणगौर'—आदि उसी श्रेणी के गीतों मे रखे जा सकते हैं। इन्हें सांस्कारिक अथवा अनुष्ठानिक गीतों के नाम से सम्बोधित

किया जा सकता है। यहां हम 'गणगौर' के गीतों का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

'गणगौर' नारी के सौभाग्य और सिन्दूर का त्यौहार है, जो भारतवर्ष मे चैत्र तथा भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया को मनाया जाता है। मालवा में 'गणगौर पूजन' की प्रथा सदियों-पूर्व से चली आरही है। 'गणगौर' को नारी के सौभाग्य की देवी माना गया है। वह हिन्दू-नारी की साधना का प्रतीक है। छोटी-बालिकाए, कुंवारी कन्याएं और सौभाग्यवती महिलाएं ही गणगौर का पूजन करती हैं। ऐसे पावन-प्रसंग यहां के लोकगीतों मे विभिन्न रूपों मे मुखरित हो उठे हैं।

बसन्त के आगमन के पश्चात ऐसे त्यौहारों का तांता सा लग जाता है, इनमे पुरुष के त्यौहारों मे 'होली' और नारी के त्यौहारों में 'गणगौर' प्रमुख माने गये हैं। यहां हम एक ऐसा गीत प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमे एक नायिका अपने प्रियतम से 'गणगौर' का महोत्सव देखने जाने का आग्रह कर रही है और उसके प्रियतम उसकी शृंगार सज्जा और रूप लावण्य का मार्मिक वर्णन करते हुए उसे जाने से रोकते हैं —

"म्हारा बाबासा के मांडी गणगोर हो रसिया,
घड़ी दोय खेलवाने जावादो।

घड़ी दोय जावतां, पलक दोय आवतां,
सारो दिन सयेल्यां मे लाग्यो हो मिरगानैनी,
थां बिन जिवड़ो नी लागे।

थारी नथ भलके, थारो चूड़ो चलके,
थारा नेना रो निजारो प्यारो लागे ए मिरगानेनी;
थां बिन जिवड़ो नी लागे।"

(मेरे बाबा के यहां गणगौर सजाकर उत्सव मनाया जा रहा है। इसलिये ऐ मेरे प्रियतम मुझे एक-दो घड़ी खेलने के लिये जाने दो। केवल घड़ी, दो घड़ी के लिये जाना तो ठीक है, किन्तु ए हिरणी के जैसी आंखों वाली प्रिया! यदि तुमने सारा दिन अपनी सहेलियों के साथ खेल-कूद मे बिता दिया तो तुम्हारे बिना मेरा जी यहां नही लगेगा। तुम्हारी नाक मे नथ झल-मला रही है, तुम्हारे हाथों मे चूड़ियां चमक रही हैं और तुम्हारे नयनों की छटा मुझे अत्यन्त प्रिय लग रही है।

इसलिए ऐ हिरणी के जैसी आंखों वाली प्रिया ! तुम न जाओ ? तुम्हारे बिना यहां अकेले मे, मेरा मन नही लगेगा।)

मालवा की शस्य-श्यामला धरा अनन्त वनराजि से परिवेष्ठित है और असंख्य सुरभित सुमनों की सुवास से परिपूरित है। गुलाब, मोगरा, चमेली, जुही और चम्पा के फूलों की यहां भरमार है। प्रकृति के ऐसे सुरम्य दृश्यों को देखकर, उसके जीवन मे उल्लास और हर्ष की धाराएं लहरा उठती हैं। वह गुलाब के एक गहराए हुए फूल को देखकर अपने लिये विभिन्न आभूषणों के बनवाने का अनुग्रह करती है—

"म्हारा माथा ने मेमद, लाओ बालम रसिया,
गेरोजी फूल गुलाब को,
म्हारा मुखड़ा ने बेसर लाओ बालम रसिया,
म्हारा हिवड़ा ने हांस घड़ावो बालम रसिया,
गेरोजी फूल गुलाब को।"

(ऐ प्रियतम ! अब तो गुलाब का फूल भी गहरा गया है, अब मेरे मस्तक पर मेमंद, मेरे मुखड़े पर वेसर और मेरे हृदयस्थल पर हांस घड़ादो, क्योंकि अब तो गुलाब का फूल गहरा गया है।)

इतना ही नहीं उस फूल के प्रस्फुटित सौन्दर्य ने उसके अग-प्रत्यंगों को सक्रिय बना दिया है, भावना का तीव्रतर प्रवाह उसके अन्तर मे लहरा उठा है और इसके फलस्वरूप उसकी आंखे फड़कने लगती हैं और उसका मन फड़फड़ाने लगता है, वह गाती है—

"म्हारी आंखड़ली फड़ूखे, आप सिदारो,
बालम रसिया,
गेरोजी फूल गुलाब को,
म्हारो जीवड़लो तड़ूखे घेवर लावो,
बालम रसिया,
गेरोजी फूल गुलाब को।"

(आज मेरी आंखे फड़फड़ाने लगी हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि आज तुम अवश्य आओगे ! आज मेरा जी (मन) भी धड़कने लगा है ऐसा प्रतीत होता है कि तुम घेवर लेकर अवश्य आओगे ! क्योंकि अब तो गुलाब का फूल गहरा गया है।)

जब सांझ होने लगी तो वह भी गणगौर पूजन के समारोह से घर लौट आई, किन्तु उदास, खिन्न और मौन। उसके प्रियतम ने जब उदासी का कारण पूछा, तो उसने अपने कानों की बिन्दिया के खोजाने का समाचार सुना दिया और फिर वैसी ही व्यथा की काली चादर मे ढक गई—यह सब उसके प्रियतम से सहन न हो सका और वह उसे धीरज बंधाते हुए कहने लगा —

"बिन्दली हो बिन्दली कंई करोजी गोरी,
बिन्दली घड़ावां दोय चार,
होजी म्हारी, सुणोजी म्हारी,
खेलतड़ा बिन्दली गमी हो रसिया।"

(ऐ गोरी ! तुम बिन्दली-बिन्दली की रट क्यों लगा रही हो ? यदि वह खोगई है तो खोजाने दो। तुम्हें दो-चार बिन्दिया और घड़वा दूंगा। परन्तु ओ मेरे स्वामी ! जरा मेरी भी तो सुनो, इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, वह तो खेलते-खेलते कही खो गई है।)

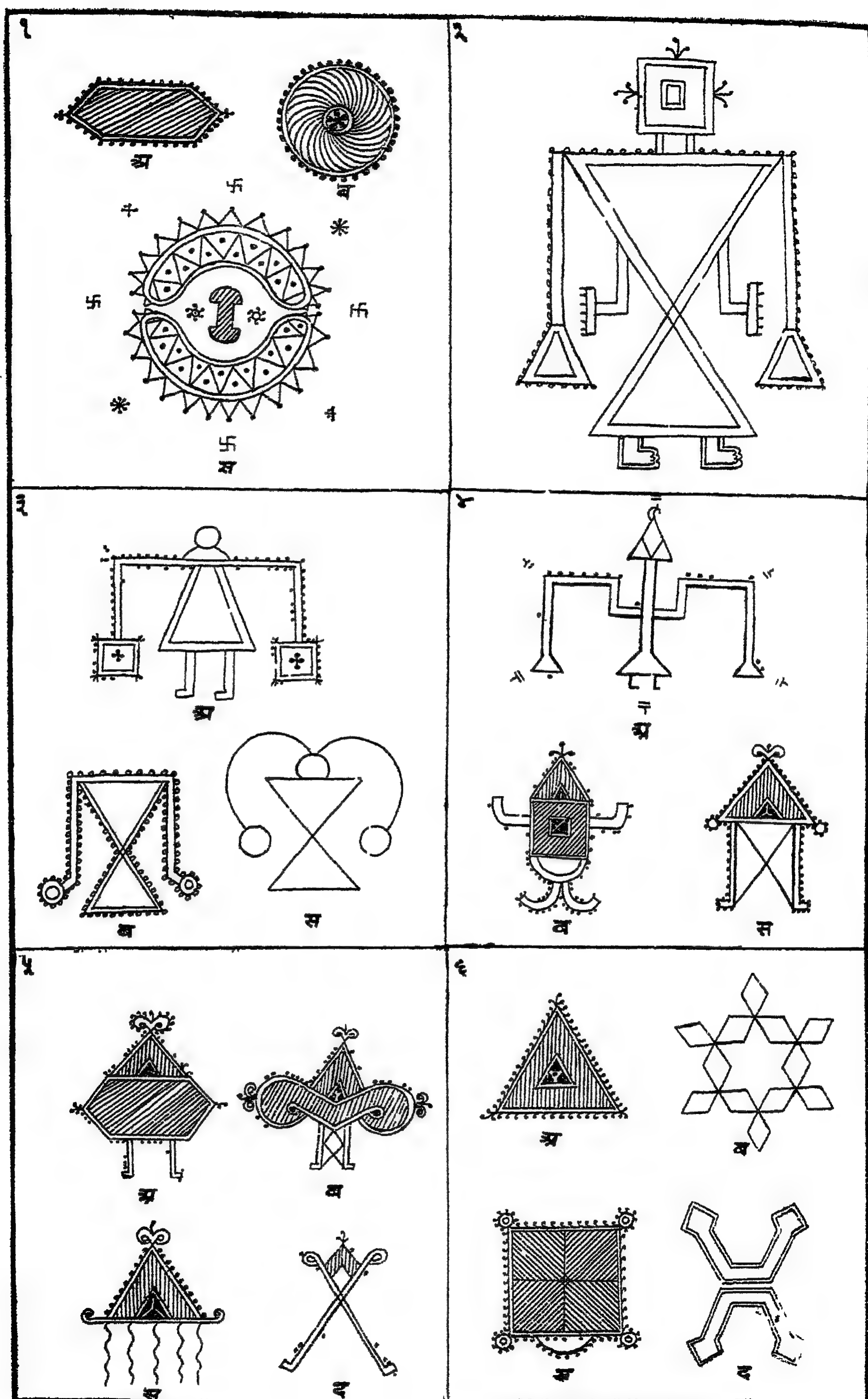
इस प्रकार इन त्यौहारों का क्रम वर्षो से चला आ रहा है, मालवा का यह अत्यधिक प्रचलित रिवाज है कि यहां की नारियों के पतिदेव श्रावण और चैत्र मास की तृतीया को अपने अपने सुसराल जाएं, उसने भी अपने स्वामी को चैत्र शुक्ल तृतीया को (गणगौरी तीज को) बुलाया है किन्तु वह आने मे असमर्थ है, और इसी कारण उसकी विरह वेदना तीव्रतर होजाती है। प्रस्तुत गीत उसकी मनोदशा के सूक्ष्म चित्रण करने मे सफल हुआ है, हम उसे यहां उद्धृत कर रहे हैं —

"भंमर घड़ाजोजी, हजारी ढोला भंमर घड़ाजोजी,
म्हारी रखड़ी ऊपर भरम करे वी, आया रीजोजी।
किस विध आऊं ऐ ? सुन्दर गोरी किस विध आऊं ए ?
म्हारा राजाजी रो, हुकुम नई छे।
मै तो मरूं कटारी खाय, हजारी ढोला कल मत आजोजी,
ऐसी मत करजो जी सुन्दर गोरी, ऐसी मत करजोजी,
म्हारी रात रसोई ताजा भोजन सीला मत करजोजी,
म्हारो रतन परिडा रो ठंडो पाणी, सीलो मत करजोजी,
म्हारो छपर पलंग, मिसरू का तकिया सूना मत करजोजी,

चुड़लो चिराजोजी हजारी ढोला, चुड़लो चिराजोजी,
म्हारी पोंची ऊपर भरम करे वी आया रीजोजी।"

(ऐ मेरे हजारों मे से एक प्रियतम ! तुम किसी भी प्रकार अवश्य आजाना, क्योंकि लोग मेरी रखड़ी (मस्तक पर धारण करने का एक प्रकार का गहना) पर कई प्रकार के भ्रम पैदा करते हैं और इसलिये मुझे नया भंवर बनवा देना। ऐ सौन्दर्यमयी गौर वर्णी ! मै कैसे आसकता हूँ ? मेरे राजाजी की आज्ञा नही है कि मै यहां संग छोड़कर चला आऊं। ऐ स्वामी ! यदि आप आज न आ सको तो फिर कल आकर क्या करोगे ? कल तो मै कटार भोंककर स्वयं मर जाऊंगी। ऐ सौन्दर्यमयी गौरवर्णी ! कही ऐसा न कर बैठना नहीं तो मेरा स्वादिष्ट और ताजा भोजन बास जाऐगा, मेरे रत्नों से जड़े हुए परंडे (पानी रखने का स्थान) का ठंडा पानी गरम हो जाएगा, मेरे छप्पर पलंग और मिश्रु (एक विशेष प्रकार का रेशमी कपड़ा) के तकिये तुम्हारी प्रतीक्षा में सूने पड़े न रह जाएं ! ऐ हजारों मे अकेले मेरे प्रियतम ! मेरी बाहुओं के लिये चूड़ा बनवादो, क्योंकि मेरी पोंहची को देखकर कई लोग भ्रम करते हैं और तुम किसी भी प्रकार अवश्य आजाना।)

मालवा मे 'गणगौर' की परम्परा सदियों से प्रचलित है। बसन्त के आगमन के साथ ही मालवा मे त्यौहारों की भरमार सी आजाती है। होली के समाप्त होते ही पन्द्रह दिनों तक गणगौर का पूजन और झांकियां सजाई जाती हैं। सरोवर की पाल पर गणगौर की मूर्तियां रखकर नगर की सम्भ्रान्त नारियां व कुंवारी कन्याएं सौभाग्य और मंगल के गीत गाती हैं, नृत्य करती हैं और हर्ष-उल्लास की नई उमंगों मे डूबती, उतराती सन्ध्या के धूमिल वातावरण मे खो जाती हैं।


१
अ
ब
अ
२
३
अ
ब
स
४
अ
ब
स
५
अ
ब
स
द
६
अ
ब
अ
द

[८]

राजस्थान में रक्षा-बन्धन

लेखक – श्री जोगेन्द्र सक्सेना

[कलाकार लेखक ने अपने सूक्ष्म दर्शन, अनुभव और अध्ययन के आधार पर राजस्थान मे रक्षाबन्धन के त्यौहार पर महिलाओ द्वारा अंकित की जाने वाली आकृतियो का परिचय प्रस्तुत निबन्ध मे दिया है। हमारे समाज में विभिन्न त्यौहारो के अवसर पर जो लोकानुकृतियां प्रचलित हैं उनका विशेष अध्ययन किया जाना चाहिये। प्रस्तुत निबन्ध इस दिशा मे एक सराहनीय प्रयत्न है —सम्पादक]

राजस्थान की स्त्री-कला का निकट से अध्ययन करने पर हमे उसकी विशेषताओं का पूरा परिचय मिलता है। दैनिक जीवन का कोई भी ऐसा विषय नहीं जो उनकी कलामय अभिव्यक्ति से अछूता बचा हो। जिस प्रकार लोक-गीत हैं उसी प्रकार स्त्री-कला का भी राजस्थान की सांस्कृतिक धरोहर को सहेज रखने मे अपना विशिष्ट स्थान है।

माण्डणा-मेंहँदी राजस्थान की स्त्री-कला के दो प्रमुख अंग हैं। माण्डना भूमि अलंकरणों से संबंधित हैं तो मेंहँदी स्वयं स्त्री-प्रसाधन का मुख्य अंग है। माण्डनों की परिभाषा मे हम भूमि पर बनाये जानेवाले कलापूर्ण रेखा-चित्रों के साथ-साथ भित्ति पर बनाये जानेवाले सभी प्रकार की बेले, जाल-चपेटे और इसी प्रकार के अन्य रेखा-चित्रों को भी ले लेते हैं।

माण्डनों का महत्त्व

माण्डनों मे राजस्थान के सभी प्रमुख त्यौहारों एवं रीति-रिवाजों की सुन्दर अभिव्यक्ति देखने को मिल जाती है। होली, दीपावली, मकर-सक्रांति आदि पर्व तो इसके मुख्य विषय हैं ही, किन्तु श्राद्ध और रक्षा बन्धन भी इससे बच नही पाये हैं। अंतिम दोनों पर्वों के माण्डने भीतों पर अंकित किये जाते हैं, किन्तु दोनों ही को बनाने

की सामग्री भिन्न होती है। रक्षा-बन्धन पर जहाँ ये गेरू से छोटे-छोटे आकार मे बनाये जाते हैं, वहाँ श्राद्ध पक्ष में इनका स्वरूप बड़ा हो जाता है और सामग्री में गोबर, पुष्प और चमकदार पन्नी आदि होती है। इनके विपरीत अन्य मांडने रीति से लिपी हुई भूमि पर खड़ी से बनाये जाते हैं।

रक्षाबन्धन का मूल्य

त्यौहारों की परम्परा मे रक्षाबन्धन का अपना ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व विशेष है। इसके साथ मे भाई-बहिनों की अनेकों कोमल भावनाये लिपटी हुई हैं। इस अवसर पर बहिने भाइयों के हाथों मे राखी के कच्चे धागे द्वारा अपने परस्पर स्नेह के बन्धन को दृढ़ से दृढ़तर बनाकर इस स्नेह-तंतु द्वारा उसकी स्मृति को ताजा करती रहती हैं। यह भाई-बहिन के स्नेह का सच्चा प्रतीक है, भाई पर बहिन की आपत्ति काल मे रक्षा करने का पवित्र भार है। हुमायूं ने अपने राखी बांधने का जो मूल्य चुकाया, वह एक ऐतिहासिक घटना है। एक विजातीय द्वारा कच्चे धागे के स्नेह मे बंधकर तन, मन, धन से रक्षा करने के लिए तैयार होजाने का अभूतपूर्व उदाहरण है।

रक्षाबन्धन के साथ संबंधित दूसरी भावना माता-पिता के अनन्य भक्त श्रवण कुमार की है। वे किस प्रकार अपने श्रद्धेय जनों को काँवड (बहगी) मे लेकर देश-विदेश घूमे, यह रक्षा बन्धन पर स्त्री-कला का प्रमुख विषय है। इस पर्व पर हमे श्रवणकुमार के विभिन्न स्वरूपों का विषद चित्रण देखने को मिलता है, यहां स्त्रियां साथ मे नारियल, कापड़ा आदि आवश्यक शुभ सामग्री बनाना भी भूलती नहीं हैं।

प्रति वर्ष श्रावणी पूर्णिमा के शुभ दिन समस्त देश मे रक्षा-बन्धन का त्यौहार बड़े उत्साह से मनाया जाता है। बहिने भाइयों के राखी बांधने जाने के लिए तैयार होने से पूर्व अपने घर के प्रत्येक द्वार के दोनों कूलों (पक्खों) पर श्रवणकुमार, राखी, नारियल, कापड़ा, साथिया तथा इसी प्रकार की अन्य आकृतियाँ बनाकर उनका पूजन करती और तत्पश्चात् राखी का स्नेह-बन्धन बांधने के लिए उत्साहपूर्ण हृदय ले चपल गीत से घरों से निकल पड़ती हैं।

भावना पूरित त्यौहार

हिन्दुओं के समस्त पर्वों मे रक्षा बन्धन सर्वाधिक भावनापूर्ण त्यौहार है। इस अवसर पर बहिनों को भाइयों के राखी बांधने का जो उत्साह और उमग होती है, वह सर्व विदित है, किन्तु वास्तव मे स्वयं भाइयों को भी राखी बंधवाने का कम चाव नही रहता। यह ऐसे भाइयों से पूछिये जिनके बहिने नही हैं और जो अपनी इस भावना की पूर्ति के लिए पड़ौस की लड़कियों से राखी बधवाते हैं अथवा उन बहिनों के दिलों को टटोलिये जिनके भाई नही है और जो इस अभाव की पूर्ति के लिए एक 'राईवर' से भाई की कामना करती है और जो भाई न होने पर किसी देवता, विशेषकर गणेशजी के, जैसा कि लोक वार्ता मे प्रचलित है, राखी बांधकर अपना त्यौहार मनाती हैं और किसी प्रकार अपने टूटते हृदय को धीरज बधाती हैं।

नकटा त्यौहार

रक्षा बन्धन को हम चाहे कितना ही स्नेह आदि भावना से पूरित तथा महत्त्वपूर्ण त्यौहार क्यों न बताये किन्तु बहिने तो इसे नकटा त्यौहार कह कर ही पुकारती हैं। इसका कारण भी है। समस्त पर्वों मे यही एक ऐसा पर्व है जिस पर बहिनों को राखी बांधने आने के लिए निमन्त्रण की आवश्यकता नही होती। वे स्वय ही अपनी स्वेच्छा से सब तैयारियां करके भाई के बिना बुलाये ही राखी बांधने पहुँच जाती हैं, क्योंकि यह वर्ष का त्यौहार होता है, इसलिए वह मान अपमान के विचार से घर मे बैठकर व्यर्थ गंवाया नही जा सकता। राखी का स्नेह-सिक्त धागा बांधने के लिए उसे हर सूरत मे अपने भाई के यहां जाना ही पड़ता है और यदि भाई अथवा बहिन मे से कोई परदेश मे हुआ तो उसे यह रस्म डाक द्वारा पूरी करनी पड़ती है। ठीक भी है, रक्षा का अभिवचन बहिन को लेना है, मतलब उसका है, अतएव निमन्त्रण कैसा ? अपने अर्थ-साधन के लिए उसे स्वयं ही पहुँचना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त यदि हम राखी के दिन अपने हृदयगत भावों का विश्लेषण करे तो हमे उपरोक्त नाम की सार्थकता नजर आ जाती है। यह एक ऐसे भाई का दृष्टिकोण होगा जिसके पास अपनी बहिन की भावनाओं का आदर करने के लिए अटी मे कुछ भी नही है। ऐसे अवसर पर राखी बांधने आने वाली बहिन उसके लिए प्रसन्नता और

उत्साह के स्थान पर समवेदना और लज्जा का कारण बन जाती है। उसे अपनी हीन स्थिति का भान हो आता है। उसकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है जो बाद मे विरक्ति मे बदल जाती है।

चित्र परिचय

इस त्यौहार पर स्त्रियां जिन आकृत्तियों को अकित करती हैं, उनकी संख्या बहुत बड़ी है। लेख के प्रारभ मे केवल कुछ आकृतियां उद्धृत की गई हैं। इनसे उनकी कला पटुता और विचार धारणा का परिचय मिलता है। चित्र १ में रक्षा बधन से सबंधित सामग्री नारियल और राखियों का चित्रण किया गया है। यही इस अवसर की आवश्यक सामग्री भी है। चित्र मे आकृति 'अ' नारियल और 'ब' तथा 'स' राखियों के भावपूर्ण चित्रण हैं।

चित्र संख्या २,३,४ और ५ श्रवण कुमार की विभिन्न आकृतियां हैं। इनमे उनको कन्धे पर बहगी मे माता-पिता को लिए हुए यात्रा पथ पर अग्रसर होते दिखाया गया है, यहीं वास्तव मे स्त्री-कलाकारों का भाव भी नजर आता है। चित्र ३ मे आकृति 'अ', चित्र २ से कहीं अच्छी और कलापूर्ण है। 'ब' से ऐसा लगता है कि कलाकार ने पूर्ण शरीर न बनाकर केवल वस्त्र 'अगंरखी' बना कर ही छोड़ दिया है। पैर न बनाने से कुछ ऐसा ही लगता है। जब कि इसीकी आकृति 'स' तो एक ऐसी स्त्री द्वारा बनाई गई प्रतीत होती है जो या तो कला मे दक्ष नही है, अथवा जो इस ओर से उदासीन है। उसने इस अवसर पर जो कुछ बनाया केवल आवश्यकता वश, अलकार विहीन रेखाये खींच ली, कदाचित वह भ्रातृहीना भगिनी रही होगी, जिसके हृदय का व्यग उसकी आकृति मे भी झलक उठा है। कुछ भी हो इन कुछ टेढ़ी-सीधी रेखाओं में ही उसने अपने हृदय का भाव पूर्णत व्यक्त कर दिया है।

चित्र ४ मे आकृति 'अ' अपने वैचित्र्य के अतिरिक्त और सब प्रकार से ठीक है। इसमे भी कलाकार अपने भाव को व्यक्त करने मे सफल हो सका है। अन्य दो आकृतियां 'ब' और 'स' तो बिल्कुल ही विचित्र हैं। 'ब' से एक गुड़िया जैसे खिलोने का भान होता है, किन्तु 'स' तो सर्वथा किसी भवन के प्रवेश द्वार का चित्र-सा लगता है। इन्ही आकृतियों को भिन्न दृष्टिकोण से देखने पर इनका कुछ अर्थ समझ मे आता है। आकृति 'ब' ऊर्ध्वमुखी और त्रिकोण और वर्ग से मिल

कर बनी है। इसका आधार अर्ध चन्द्र है जो उसी प्रकार के दो अन्य खण्ड चन्द्रों पर अवलम्बित है। इसके ऊपर वर्ग पर त्रिकोण बिठाया हुआ है। वर्ग का अर्थ चारों दिशाये अथवा विश्व से है और उस पर त्रिकोण अथवा शिव के आधिपत्य की भावना लक्षित होती है, जो असत्य नहीं। अर्ध चन्द्र तो उनकी शोभा अथवा चित्र का अलकरण है।

चित्र ५ की आकृतियां श्रवण कुमार के लाक्षणिक चित्रण हैं। 'अ' मे नारियल, 'ब' मे कलश और 'स' में कापड़ा और श्रवण कुमार का आकार दे दिया गया है। ये तीनों ही वस्तुए मगल कार्य से संबंधित हैं। यहां यह बता देना आवश्यक हो जाता है कि रक्षा बधन के दिन स्त्रियों के लिए कोई आकृति विशेष बनाने का बंधन नहीं है। अतएव वे बिना किसी बाधा के फूलड़ी, नारियल, कापड़ा आदि आकृति बनाकर पूजा कर लेती है। इन आकृत्तियों का वे अंतिम रूप बना देती है इसी से उनके कलाकार का परिचय मिलता है। यहां हमे उनके व्यंग चित्रकार के गुण का आभास भी मिलता है। जिस प्रकार वे किसी भी वस्तु को कोई भी रूप दे देते है, इसी प्रकार स्त्रियों ने भी नारियल और कापड़ा आदि को श्रवण कुमार के रूप मे निर्मित कर दिखाया है। हमे उनके इस गुण का विषद परिचय दीपावली के माण्डणों मे मिलता है, जहां वे उक्त पर्व से सबंधित सामग्री का अपनी इच्छानुसार बड़ा मनोरजक व्यग चित्रण करती है।

चित्र ६ मे स्त्रियों की प्रवृत्तियों का पूरा परिचय मिलता है। इस चित्र मे चार विविध आकृतियां हैं। 'अ' आकृति 'कापड़ा' माण्डनों का भी विषय है, किन्तु यहां पर इससे बहिनों को भाई द्वारा दिये जाने वाले 'कापड़ा' अथवा वस्त्र का संकेत मिलता है। 'स' लहरिया भी वर्षा ऋतु मे बनाया जाने वाला भूमि अलंकरण है, उसी प्रकार 'ब' भी। यह आकृति दीपावली के अवसर पर प्रचुरता के साथ मांडो जाती है। जैसा कि पाठकों ने देखा होगा यह आकृति शिल्पकारों की जाली का भी प्रिय विषय है। माण्डनों मे जहां यह '१३ टपकी का माण्डना' कहलाता है वहां शिल्पकारों की यह 'जवा छेवास' है। इसमे बनने वाली 'कोइली' अथवा डायमण्ड 'जवा' है तथा षटकोण 'छेवास' माना जाता है। आकृति 'द' का परिचय इस समय देना कठिन है।

कला की कसौटी

चित्रकला लोक चेतना को व्यक्त करने का एक माध्यम है। अन्य ललित कलाओं की भांति इसमे भी रसानुभूति है। इसकी अपनी टेक्नीक है। कला की जडे लोक चेतना मे होती हैं। यदि हम इस स्त्री कला को कला की कसौटी पर कसे तो हमे निराश नही होना पड़ता। हम इसके मुल्यांकन के लिये अन्य कलाकृतियों के समान इसे भी सरलतापूर्वक तीन भागों मे विभाजित कर सकते हैं—(१) चित्रों की विषय वस्तु—इसका स्त्री कला मे अभाव नही है। इसके विषय सर्वथा वे ही हैं जो दैनिक जीवन मे काम आने वाली अथवा उससे संबधित वस्तुएं हैं। इनमे कुछ आकृतियां ऐसी हैं अवश्य जो हमे देखने मे अट-पटी लगती हैं और जिनका अर्थ हमारी समझ मे नही आ पाता, किन्तु वह भी तो हमारी ही अनभिज्ञता का परिचायक है, स्वय कला का दोष अथवा उसमे किसी प्रकार का अभाव नही। (२) उनकी टेक्नीक अथवा स्वरूप। राजस्थानी स्त्रियों की कला का स्वरूप अथवा टेक्नीक सर्वथा मौलिक है। उनका स्वरूप स्पष्ट और अर्थपूर्ण है। (३) उनमे भावात्मक गुणों का अभाव भी नहीं पाया जाता। यह अवश्य है कि उपरोक्त तीनों विभागों की आवश्यक बाते उसमे प्रचुरता के साथ प्राप्त नहीं हो पाती किन्तु इस मापदण्ड से उसका मूल्य गिरने नहीं पाता।

कला का दूसरा मापदण्ड है, उसमे कुछ ऐसे गुणों की विद्यमानता जिनसे दर्शक के हृदय मे उसके प्रति स्वत ही संभ्रम और प्रशसात्मक भाव उत्पन्न हो सकें। इस दृष्टिकोण से भी हमे स्त्री-कला मे किसी प्रकार की कमी दृष्टिगोचर नही होती। त्यौहारों विशेषकर दीपावली पर बनाया जानेवाला एक सपूर्ण माण्डना अथवा हाथों मे लगाई जानेवाली मेहदी को देखने से हम उनकी प्रशंसा मे संयम के साथ दो शब्द कहे बिना नहीं रह सकते। इसके अतिरिक्त इस कला के इतनी प्राचीन होजाने पर भी इसमे अभी तक शिथिलता नही आने पाई है। इसका रूप अवश्य विकृत होगया है जिसमे उलझकर उसका अर्थ, उसका भावात्मक गुण अलक्षित सा लगने लगता है। किन्तु इससे उसके महत्त्व, उसकी सृजनात्मक प्रकृति मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं आने पाया है। हमे आज भी उसमें सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के दर्शन मिल जाते हैं, जो किसी भी ललितकला के आवश्यक गुण हैं।

[६]

राजस्थानी लोक-गीत

लेखिका — श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत

[राजस्थान की विदुषी रानी साहिबा श्रीमती चूण्डावतजी ने प्रस्तुत निबन्ध मे राजस्थानी लोकगीतो का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है। राजस्थानी लोकगीत एक सुविस्तृत विषय है, जिमका अध्ययन सभी पहलुओ से अपेक्षित है। विदुषी लेखिका ने अपने विशेष अनुभव और अध्ययन के आधार पर सम्बन्धित विषय पर अनूठा प्रकाश डाला है। —सम्पादक]

गृहस्थ जीवन, मानवीय जीवन की कसौटी है। अनवरत साधना और परिश्रम, जिस कर्तव्यपरायणता और सहनशीलता के साथ गृहस्थाश्रम मे किया जाता है, वह त्यागपूर्ण और बलिदानमय होता है। दूसरों के लिये उठाये हुए कष्ट, अद्भुत और दुःखदायी होते हुए भी आनन्दकर होते हैं। जीवन मे आने वाले अनेक प्रकार के कष्टों और बाधाओं को, कर्तव्यपालन के हेतु नित्य नूतन मुस्कान के साथ अभिनन्दन करता हुआ कर्मक्षेत्र का योद्धा आगे बढ़ता जाता है। इसीलिये गृहस्थाश्रम का हमारे शास्त्रों ने बड़ा ऊचा महत्त्व बताया है।

सचमुच मे गृहस्थ जीवन, मानवीय जीवन की कसौटी है। गार्हस्थ जीवन, कड़ुवा-मीठा दुःख-सुख और धूप-छांह का एक अद्भुत मेल है।

मानवीय जीवन की प्रसन्नता और झुंझलाहट का, क्रोध और प्रेम का, राग तथा विराग का लोक गीतों मे सर्वोत्कृष्ट रूप मिलता है। जन-जीवन मे व्याप्त रहने वाली आकांक्षाए और इच्छाए जितनी लोक-गीतों मे स्पष्ट और सजीव होती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ हैं।

लोक-गीत कोटि-कोटि हृदयों का प्रतिनिधित्व करते हैं। असख्य कल कंठों से गाये हुए ये लोक-गीत, जन जीवन मे इतने गहरे बैठे हुए हैं कि ये जन-समाज का अविच्छिन्न अंग बन गये हैं। समाज, लोक-गीतों के दर्पण मे अपनी इच्छाओं का, कामनाओं का और अपनी आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब देखता आया है। व्यक्ति अपने मन की दबी

इच्छा को, गीतों मे गाकर समाज के सामने रखता है, यत्न से हृदय मे पोषित प्रेम की अभिव्यक्ति भी गीतों के द्वारा ही कर सुख की सृष्टि करता है, अपनी कामनाओं को सुन्दर स्वरूप से गा-गा कर आनन्दित हो उठता है।

झुंझलाहट, परवशता और खीज मे गाया हुआ रागमयी गीत का रूप व्यक्ति के हृदय की जलन बुझाने मे सहायक होता है। व्यक्ति मनका भार हलका कर सन्तोष का अनुभव करता है।

जन जीवन मे नारी की अभिव्यक्ति का साधन भी गीत गा रहा है। जिस राग-विराग, घृणा-प्रेम, सुख-दु ख को सामाजिक व अन्य कारणों से स्पष्ट कह नहीं पाती, उन भावनाओं को नारी ने गीतों के रूप मे गा-गा कर सुना दिया। गीतों मे नारी ने अपने अन्तस्तल को खोल कर रख दिया। न वह कहीं रुकी है, न झिझकी है और न कहीं शर्मायी है। जैसा उसने सोचा वैसा ही कहा। परिष्कार का 'मेकअप' कही नहीं लगाया। इसी लिये लोक-गीत सजीव हैं, प्राणवान है, मधुर हैं और नैसर्गिक हैं। इसीलिये लोक-गीतों मे पीड़ा है, लालित्य है, आनन्द है और हृदय को विलोड़ित कर देने की शक्ति है।

लोक-गीत असंख्य नारियों के हृदय की झकार है, कामना की शब्दमूर्ति है, आकांक्षा का रेखाचित्र है। इन गीतों के द्वारा गृह-देवियां मुस्कराई हैं, काल्पनिक आनन्द से आंख-मिचौनी खेली है, प्रेमाभिनय के संकेत किये हैं, और स्नेह अर्पण से झोंपड़ों मे जीवन-ज्योति जलाई है। वे रोई भी हैं और तीव्र पीड़ा से उमड़ते आंसूओं को आंचल से पोंछ, क्रन्दन गीत ध्वनि से वायुमण्डल को भरा है। सुसराल में सास के कष्ट से पीड़ित होकर पीहर की याद मे भी वह गीतो मे ही बिलखी है, वियोगाग्नि को भी गीतों की आहों से ही प्रज्ज्वलित किया है और मर्म व्यथा को गीतों से प्रकट किया है। पूज्यों को श्रद्धा सुमन भी गा कर ही चढ़ाये हैं और नत मस्तक हो देवताओं से कामना प्राप्ति के आशीर्वाद भी गाकर ही मांगे हैं। सुख में भी गाया है और दु ख मे भी गाया है। कोई ऐसा अवसर नहीं जिस पर गाकर नारी ने अपनी अभिव्यक्ति न की हो। पुत्री, कलेजे के टुकड़े को पराये को सौपते समय भी स्नेह और जुदाई की पीड़ा को रुंधे कण्ठ से गा कर ही अभिव्यक्त

किया है और वधु के आगमन का गौरवमय स्वागत भी गा कर ही किया है।

खेत मे काम करते समय भी प्रस्वेद बिंदुओं से गीतों को आर्द्रित किया है, चक्की की घरघराहट को भी लोक-गीतो से रागमय बनाया है। लोकाचार और सामाजिक बन्धनों मे बधे स्त्रीजगत को अपनी मानसिक अभिव्यक्ति का साधन ये लोक-गीत यदि न मिले होते तो उनका हृदय फट जाता या विस्फोट हो जाता। वे लोक-गीतों के द्वारा अपने अतस्तल के उद्‌गार निकाल कर संयमित रह सकी है। इन्ही कारणो से लोक-गीत जन जातियों के कलेजे के टुकड़े है। नारी समाज की आत्मा है और ग्राहस्थ जीवन के सुख के मेरुदण्ड हैं।

लोक गीतों मे देवी-देवताओं के गीतों का प्रमुख स्थान रहा है। मांगलिक और पूजा के अवसर पर तो देवताओं को मनाया जाता ही है। प्रत्येक धार्मिक पर्व पर प्रत्येक देवी तथा देवता के भिन्न-भिन्न स्वरूपों की भी भिन्न भिन्न प्रकार से आराधना की जाती है।

नवरात्रि के दिनों में, प्रतिपदा से लगा कर दशहरे तक देवी पूजा निरन्तर चलती रहती है। इन दिनों मे, कालिका माता, अंबा माता, करणी माता आदि नव देवियों के स्तुतिगान प्रचलित हैं।

तुलसी, सूर्य्य पत्नी राणक देवी, चन्द्र पत्नी रोहिणी, ब्रह्माणी, गौरी आदि सभी देवियों को लोकगीतों मे "पत्र-पुष्प" चढ़ाये है। विवाहादि मे रणथभोर के विनायक जी का स्मरण कर कार्यारम्भ कर दिया जाता है। वर्षा ऋतु मे इन्द्र देव को प्रसन्न कर लिया जाता है। कामना की प्राप्ति के लिये भोले शंकर को रिझाया जाता है। समय २ पर सभी देवताओं को सद्धा सुमन चढ़ाये जाते हैं।

व्यक्ति पूजन भी राजस्थान मे बहुत प्रचलित है। जिन व्यक्तियों ने अनूठे कार्य किये, अपने जीवन के ज्वलन्त उदाहरण जनता के सीखने के लिये छोड़ गये उनकी महानता को गा-गा कर पूजा की गई है। गोगा नवमी पर घोड़े सवार गोगाजी की मिट्टी की प्रतिमा बना पूजी जाती है। पाबूजी और रामदेवजी के गीत घर-घर मे गाये जाते हैं।

इसी भांति दक्षिणी राजस्थान के विशिष्ठ भाग मे 'देवजी' की मानता है। गूजर जाति देवजी की अनन्य उपासक है, इन्हे अव-

तार मान कर पूजती है। स्थान-स्थान पर देवजी के देवरे बने हुए हैं। गूजर लोग शनिवार के दिन अपने घरों मे दूध जमाते नही। चाहे जितना भी दूध क्यों न हो ?

शनिवार के दिन खीर रांधकर देवजी के भोग लगा कर बांट देते हैं। गूजर विशेष कर गाय-भैसे रखने का पेशा करते है। देवजी के देवरों मे जाकर तांबे की चार-पांच तार की अंगूठी जिसे 'गोळ' कहते हैं, पुरुष पहिने रहते हैं। इस प्रकार 'गोळ' पहिनकर 'गोळजा' बने व्यक्ति को समाज मे विशेष सम्मान व दृष्टि से देखते हैं और उसे देवजी के बनाये कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। ये देवजी महाराणा हमीर के समकालीन थे। ये बड़े पहुँचे हुए व्यक्ति थे। कई आध्यात्मिक चमत्कार इन्होंने अपने जीवन मे बताये हैं। ऊदाजी और भैरूजी भी गूजरों मे ही विशेष कर पूजे जाते हैं।

राजस्थान वीर पूजक रहा है। यहां की रज के कण-कण मे वीर-भावना प्रबल रही है। यहां का बहता हुआ समीर भी वीरता का सन्देश देता रहा है। इसलिये राजस्थान-वासियों का वीरपूजक होना नितान्त स्वाभाविक है। राजस्थान के गांव गांव मे झूझारों के और सतियों के स्मारक, चबूतरे और छत्रिये मिलती हैं। जो देश के लिये अन्तिम क्षण तक लड़े, रज को रक्त से रंगते रज-रज हो रजकण मे मिल गये, मुण्ड कट जाने पर भी जिनके खण्ड खड़्ग चलाते रहे, उन वीरपुङ्गव झूंझारों की पूजा आज भी बड़ी श्रद्धा से की जाती है। उनकी निर्वाण-तिथि पर पूजा की जाती है। नव विवाहित दम्पति को झूंझार जी के स्थान पर धोकाया जाता है। पुत्र का झडुल्या (मुंडन सस्कार), झूझा-रजी के समक्ष कर उसके बलशाली होने की कामना की जाती है। पूजा के गीतों मे झूझार जी के वीर-वेश और सज्जा का चित्र उतार दिया है—

झूझारजी वागो तो सोवे राज ने केसरियां,
सोवनड़ी छै तरवार,
झूझारजी बाग पकड़ घोड़े चढ़िया।

'शूरा ओ रण मे 'झूझिया।' लोकगीत की इस एक पंक्ति मे राज-स्थान की आत्मा का दिग्दर्शन हो जाता है। अभिमन्यु की सी कम उम्र

का वीर राजा युद्धिष्ठिर जैसे कोमल हृदय के पिता के मना करने पर भी युद्ध मे जाता है। आक्रान्ताओं से घमासान युद्ध कर तिल-तिल कर युद्धाङ्गण मे कट कर गिर जाने वाले शहीद का वर्णन कितना सजीव है—

शूरा भाला राल्या जी बालु रेत मे ।
शूरा बरछियां री बाजी घमरोळ ।।

मरुस्थल के रेतीले मैदान मे भाले चला रहा है और बर्छियों से घमासान युद्ध कर रहा है।

शूरा गौड़ी वाळी जी झीणी रेत मे ।
शूरा नम नम वाई तरवार ।।

घायल शूर घुटनो के बल झीणी रेत मे बैठ गया और झुक-झुक कर घावों की पीड़ा की मस्ती मे झूमता हुआ तलवारों के प्रहार करने लगा। झाड़ी-झाड़ी मे शत्रुओ की देवलियां, समाधियां बन गई।

"शूरा झाड्यां झाड्यां वेईगी देवलियां" शब्द कानों मे पड़ते ही स्मारक-स्थानों से भरे राजस्थान का चित्र आंखों के सम्मुख आ जाता है।

वास्तव मे लोकगीतों को गाने की वास्तविक अधिकारिणी राजस्थान की नारियां ही है।

सतियों ने हॅसते-हॅसते धधकती ज्वाला मे प्रवेश किया, और जौहर की अग्नि को शीतल चन्दन की भॉति अग से लगा लिया। आक्रांताओं के स्पर्श की कल्पना से पहिले ही अग्निस्नान कर देश और धर्म की मर्यादा रखने वाली, महासतियों को राजस्थान कैसे नही पूजता? ये सतियां ही तो राजस्थान के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गौरव की पताकाएं हैं। सतियों के स्थान पर, नेवेदपूर्ण थाल रखकर उनकी पूजा की जाती है, रातीजगा दिया जाता है, सतियों के चढ़ी हुई मेहदी और लच्छा, प्रसाद के रूप मे सोहागिने प्राप्त कर, श्रद्धा के साथ शृङ्गार करती हैं तो भावनाये गंभीर हो जाती हैं। नव-दम्पति गठजोड़ा बांधे धोकने जाते हैं तो विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम का आदर्श उपस्थित हो जाता है, श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है।

कितनी भाव विव्हलता से लोकगीत मे पूछा है—

प्रबन्ध होता। ईसर और गौर को पोशाके नित्य नये रग की धारण कराई जाती और उसी रंग के वस्त्र जलूस वालों के होते, हाथी की भूले तक उसी रंग की होती। शहर मे जगह-जगह रगरेजों का, वस्त्र रंगने के लिये प्रबन्ध कर दिया जाता। नगर-निवासियों के वस्त्र और जो भी दर्शक बाहर से आते उनके वस्त्र, पगड़ीबंधा आदि वे रगरेज उसी समय नि शुल्क रंग कर दे देते। नीली, पीली, लाल, गुलाबी, केशरिया, कसूमल आदि एक ही रग मे रगे उमड़ते जन समूह का दृश्य बड़ा मुग्ध-कारी होता था।

गणगौर-पूजा धार्मिक पर्व के साथ-साथ सांस्कृतिक त्यौहार भी है। सबेरे लड़कियां गौर की पूजा वर कामना के गीत गाती हुई करती हैं और सन्ध्या को महिलाएं विनोद, आनद और प्रेम के गीत गा, घूमर नृत्य विशेष रूप से करती हैं।

ईसर को महादेव और गौरी को पार्वती का स्वरूप माना गया है। जैसे पार्वती को मनोवांछित वर महादेव की प्राप्ति हुई, वैसी ही कामना कन्याएं ईसर गौरी की पूजा के समय करती हैं। एक लोकगीत मे कृष्ण, हनुमान, ब्रह्मा, आदित्य, चन्द्र आदि सभी देवताओं के नाम उनकी महिमा सहित एक एक करके वर के रूप मे गौरी के आगे प्रस्तावित किये जाते है तो गौरी सभी देवताओं मे कोई न कोई त्रुटि निकालकर मना कर देती है। जब शकर का प्रस्ताव किया जाता है तो बड़ी प्रसन्न हो स्वीकार कर लेती है। कितनी सरलता के साथ कहा है—

केवो तो गौरां दे थांरै कृष्ण वर ने वरां
ओ देवी सवा मण मोती, वर रै पड़कै चढ़ै।
ना ओ बापजी, कृष्ण वर नांहीं वरां
एक तो कृष्णजी, दूजो सांवळो ॥
केवो तो गोरां दे थांरै ईसर वर ने वरां
ओ देवी सवा मण रोळी, वर रै पड़ चढ़ै।
हां ओ बापजी, ईसर वर ने भलां ई वरां
सवा मण रोळी सैया नै बांटस्या ॥

शिव-पार्वती के स्नेह और आदर्श को गौरी पूजा के समय भांति-भांति से गाया जाता है।

लोकगीतों मे यों तो सभी रस मिलते हैं पर प्रेम-भावनाओं की अभिव्यक्ति का बाहुल्य है। इनमे राग-विराग का सुन्दर ढंग से प्रदर्शन किया गया है। प्रेम सम्बन्धी अभिव्यंजना चरम सीमा पर पहुँची हुई है और यह नितान्त स्वाभाविक भी है। मानव-हृदय मे बसने वाली इन सूक्ष्म पर सबल भावनाओं का किस कलाकार ने प्रदर्शन नहीं किया? किस देश मे, इनका सम्मान नही किया गया? किस जाति ने सभ्य हो या असभ्य विव्हल होकर इन भावनाओं को व्यक्त नहीं किया? और किस मानव के हृदय को इन भावनाओं ने सरस नहीं किया? विश्व स्रष्टा ने जगत की रचना करते समय ही मानव को ये भावनाए प्रदान कर, इनको मानव जीवन का अविच्छिन्न अंग बना दिया है।

चित्रकारों ने इसे व्यक्त करने का सहारा तूलिका से लिया, गायकों ने तारों को छू कर भावुक हृदयों को हिला दिया, नृत्यकार ने पदताल के साथ मूक संकेतों से दिल की दुनियां के चित्र उतार दिये। छेनी और हथोड़े की सहायता से निर्जीव पत्थर सजीव बन कर भावनाएं प्रकट करने लगे और कवि ने शब्दों को बाध कर भावनाओं की सृष्टि कर दी।

फिर लोकगीत प्रेम भावनाओं को प्रकट करने मे पीछे कैसे रह सकते थे? यह तो जन वाणी है, लक्ष लक्ष जिव्हाओं ने उर मे दबे, सम्भाले और सजोये भावों को स्पष्ट कर आनन्द का अनुभव किया है। स्त्रियों का अपनी मर्म-व्यथा सुनाने का, बोझिल मन के भार को हल्का करने का, उल्लास प्रकट करने का तथा भावनाओं को व्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन लोकगीत रहा है।

बड़ी से बड़ी मनोवेदना को गा कर कहा है, उपालम्भ देने और नाराजगी व्यक्त करने मे लोकगीतो ने नारी जाति को बड़ी सहायता दी है। हृदय मे लगी ठेस, दुःख और पीड़ा को जिन्हे कई कारणों से जबान पर नही लाया जा सकता उन्ही बातों को गीतों की लड़ियो मे पिरो कर, डके की चोट समाज को गा-गा कर सुना दिया। मन मे उमड़ते जिन उद्गारों को कहने मे मुग्धाओं को सकोच हुआ, चट से गीत का रूप दे, भावोद्गारों का एक सजीव चित्र बना, प्रिय को हृदय खोल सुना दिया।

गीतों के पंख लगा कर नारी कामना और कल्पना के संसार में जी भर कर उड़ी। नारी ने यदि कहीं खुल कर और स्पष्ट कहा है तो लोकगीतों में; उसने अन्तस्तल के घाव उघाड़े हैं तो केवल लोकगीतों में; आकांक्षा और कामनापूर्त्ति की मांग लोकगीतों में जोरदार शब्दों मे की है।

नारी को अभिव्यक्ति का माध्यम लोकगीत न मिला होता तो—

"रित आयां बोलां नही, तो हिवड़ो फाट मरांह"

वाली उक्ति चरितार्थ होती।

वियोग का अन्धकार, संयोग का प्रकाश, वियोगिनी का रुदन, संयोगिनी का हास, लोकगीतों मे ताने-बाने की तरह जुड़े हुऐ हैं। मिलन की मधुर वेला में कनक-किरणे नाची हैं, बिछुड़न की दुःखद घड़ियों मे रजनी ने आंसूओं की माला पिरोई है। प्रवासी की प्रतीक्षा में काले काग उड़ाये हैं और आशा के शत शत दीप संजोए, लोकगीतों ने घायल मानस के मलहम लगाया है।

"Sweetest songs are those which are full of saddest thoughts."

निसन्देह सत्य है। चोट लगने पर जो मार्मिक उद्गार अन्तस में से निकलते हैं वे सत्य होते हैं और अमर होते हैं। विश्व भर की अमर कृतियां ऐसे ही क्षणों की देन हैं। क्रौंच पक्षी के करुण क्रन्दन ने काव्य को जन्म दिया। उस क्षण ने बाल्मीकि की सुप्त भावनाओं को नव जीवन दे उसको अमर कवि बना दिया।

वियोग शृंगार साहित्य का कोहनूर रत्न है, साहित्य की अनमोल निधि है और मानव जीवन की मधुरतम भावना है। आंसूओं की स्याही से लिखी पंक्तियां किस हृदय को नहीं छूएगी? अपना अस्तित्त्व भूल "मैं तो सांवरिया रंग राची" की धुन किसे विव्हल न करेगी?

पंछियों के हाथ भेजी प्रेम-पाती किस प्रवासी को घर लौट आने को उत्कंठित न कर देगी?

विरह मे झुलसते हृदयों से निकले गीतों मे रंग है, सौरभ है, कोमलता है और जान है। उनमे पीड़ा है पर मीठी, दुःख है पर साथ

मे आशा भी है, तीव्र आकांक्षा है पर संयमित। उपालम्भ है पर आग्रह भरा। पति चाकरी पर जाने को उद्यत हो रहा है, पत्नी का मन इस आशंका से पीपल के पत्ते की भांति हिल रहा है। यातायात के साधनों के अभाव मे, प्रवासी के लंबे समय तक न लौटने का भय है।

कितना प्रबल आग्रह है—

नेड़ी तो नेड़ी करजो पीया चाकरी जी,
सांझ पड़ियां घर आय जा गोरी रा बालमा।
बरखा लूंब रही जी।

यदि चाकरी करना है तो समीप के स्थान पर करो। संध्या को घर आ जाया करो। वर्षा ऋतु आगई, तुम घर आ जाओ।"

लाख प्रलोभन देने पर भी वह रुका नहीं।

"कठण हिया रो कंथ" मना करते-करते भी चला ही गया। विरहिणी झूर रही है, झूरने और किस्मत को दोष देने के अलावा चारा ही क्या है?

"कागद व्है तो पिया बांच लूं जी, करम न बांच्यो जाय"

कितने मंजे शब्दों में वास्तविकता का दर्शन करा देती हैं—

टाबर व्हैं तो पिया राखलूं जी,
जोबण राख्यो य न जाय।
अब घर आय जावो
वरखा लूम रही जी।।

पणिहारी, राजस्थान के सर्वोत्कृष्ट लोकगीतों में से है। इसकी राग इतनी कर्ण प्रिय, मधुर और चित्ताकर्षक है कि पूंगी पर जब काळबेलिये पणिहारी बजाते हैं तो नाग मस्त हो जाता है, फन फैला कर गीतध्वनि पर झूमने लगता है। प्रायः काले नागों को पकड़ने के लियें 'पणिहारी' पूंगी पर बजाई जाती है। पणिहारी का भावसौन्दर्य उच्चकोटि का हैं, शब्द विन्यास भी उतना ही सरस है।

सात सहेलियों के झूलरे का पानी भरने जाना, राजस्थान के सौन्दर्य्यस्थल पनघट की सुन्दर छवि प्रस्तुत कर देता है। घड़े से पानी भरना, ईंडोणी का तैर-तैर जाना, बड़ा वर्णनात्मक अंश है—

घड़ो न डूबे ताल मं ऐ पणिहारी हे लो
ईंडोणी रे तिर तिर जाय सैणा लो ॥

पणिहारी से पथिक पूछता है—

सात सहेलियां रै काजळ टीलड़ी ऐ पणिहारी हे लो
थारा क्यूं ए फीका नैण सैणा लो ॥

पति की अनुपस्थिति मे शृंगार का त्याग किये हुए विरहिणी पनिहारी का उत्तर कितना स्वाभाविक एवम् सहज है—

सगलां रा सायब घरे बसै जो पथीड़ा जी ऐ लो
म्हारा तो पिउ परदेस वाला जी ॥

वियोग मे विरहिणी का मुख्यतया समय कटता है प्रिय की याद मे। प्रिय का स्मरण और चिंतन ही वियोग मे पीड़ित हृदय का अवलंब और मन को संतोष देने का साधन रहा है। इस मनोवस्था के वर्णन-व्यक्तिकरण के लिये लोकगीतों ने 'ओळुं' को चुना है। राजस्थानी के इस एक ओळुं' शब्द मे ही, याद, स्मरण, चिंतन आदि शब्दों का सार निहित हैं।

किसी का पति परदेश मे गया होता है तो उसकी सहेलियां, ननद के पीहर आने पर उसकी भौजाइयां, पीहर में हों तो भावजे तथा देरानियां जेठानियां पति का पत्र आने पर तो ओळुं गाकर एक प्रकार का उत्सव सा मनाती हैं। उस वियोगिनी के पास एकत्र हो 'ओळुं' गा उसके मनोभावों को प्रकट करने मे सहायता सी देती हैं। ओळुं गाती जा रही हैं और आंखों मे से आंसू टपकते जारहे हैं, ऐसी सजीव सरसता के दृश्य देखने में आते ही रहते हैं। ओळं की राग भी हृदय स्पर्श करने वाली होती है—

थांरी ओळुं घणी आवै म्हारा राज
जी नींद नहीं आवै म्हारा राज
म्हानै धान नहीं भावे जी राज

पुरुष से नारी को चिरकाल से शिकायत रहती आई है, पता नहीं उसमें वास्तविकता व सत्य कितना है, पर है स्वाभाविक और भावोत्पादक। प्रत्येक प्रेमी हृदय यही सोचता कि है जितनी गहराई से वह स्नेह करता है प्रतिदान मे उसे उतना नही मिलता। स्त्रियों मे यह धारणा

और भी प्रबल रही है, और इस धारणा को दृढ़ बनाने के कई कारण भी हैं। हां तो ओळुं मे भी वही शिकायत, मिठास के साथ दोहराई जाती है—

राज री तो ओळुं म्हैं करां ओ
हां ओ मुरधरिया राजा ओ।

म्हांरी करैयन कोय
म्हांनै ओळुं घणी आवै म्हारा राज ॥

जन-धारणा है कि कोई स्मरण करता है तो याद किये जाने वाले व्यक्ति को हिचकी आती है। इससे बढ़कर सन्देशवाहक और कौन मिल सकेगा? और दूत तो चाहे वह मेघदूत ही क्यों न हो, जबानी ही सन्देश सुना सकता है। पर यह हिचकी तो प्रिय के कलेजे को स्पर्श करती मुख से निकलती है। लोकगीतों में इस mental telepathy का बड़ा आदर किया गया है।

हिचकी समय-समय पर गाई जाती है। प्रेयसी इतना याद करती है कि प्रवासी प्रियतम को हिचकियों पर हिचकियां आती रहती हैं—

हचकी घड़ी री घड़ी मत आवै ऐ
म्हारा साईंना रो जीव दुख पावै ऐ

यों ही हर समय याद आती रहती है पर आमोद-प्रमोद या वाटिका-विहार के समय तो चिर प्रतीक्षित की याद विकल ही कर देती है। उस समय तो फूलों का शूलों सा लगना उचित ही है। इधर हृदय हाहाकार कर पुकारने लगता है, उधर प्रवासी प्रिय को चौगुनी हिचकियां आने लगती हैं—

बागां मे चींतारै राजन
बाबड़ियां चींतारै औ

हिचकी फूल बिणंता
दूणी आवै औ ॥

जब स्वप्न साकार होते हैं, संयोग की घड़ी आती है तो वह कितनी आल्हादपूर्ण होती है। आंखों पर विश्वास नहीं होता "क्या सचमुच आंखे देख रही हैं?" क्या कठोर तप के पश्चात् वरदान प्राप्त होरहे हैं? लोकगीतों मे संयोग की ऐसी झांकियां प्रचुरता से मिलती हैं। ऊंची

अट्टालिका के अग्र भाग पर खड़ी आंखे फाड़फाड़, आने वाले मार्ग की ओर झांक रही है। आगमन की सूचना है पर छाती धड़क रही है "आवेंगे या नहीं"। दूर, बहुत दूर वह देखो केसरियां और कसूमल सा रंग दिखाई देरहा है। सुदूर युद्धक्षेत्र से लौट रहे प्रवासी पति का दल होना चाहिये। रंग बिरंगी उसी मेवाड़ी वीर के साथियों की पगड़ियां चमक रही है—

आवो आवो मेवाड़ा रो साथ
आधो कसूमल ने आधो केसरिया।

कितना स्पष्ट चित्र उतारा है? जैसे आंखों के सम्मुख दल-नायक लौट आरहा है। मैदान मे देखो किरणों से भाले चमक उठे है, सुनो वह नक्कारे की आवाज आई। अवश्य घाटी पर दल चढ़ रहा है तभी तो ऊंचाई पर होने के कारण नक्कारे की आवाज साफ आरही है।

छापर भळक्या छै सैल
घाटी रो नगारो मैं सुण्यो जी राज।

अहा, अब तो सन्देह की गुंजाईश नही, घोड़ों की टापो की आवाज स्पष्ट आरही है। लो सुनो, हाथियो के गले मे बंधे टोकरे बजरहे हैं। अवश्य वह आगये—

घोड़ला री बाजी खुरताळ ।
हसत्यां रा वाज्या वीर घंट टोकरा॥

सैकड़ों कोस की मुसाफिरी करता हुआ, नदियों-घाटियों को लांघता हुआ जो प्रिय पाहुना आया है उसकी खातिरदारी करने में कितना आनन्द है? उसके स्वागत और आराम का प्रबन्ध करने को दौड़ी-दौड़ी फिर रही है। प्रिय पाहुने के आराम का खयाल है उतना ही उनके साथ वालों का। घोड़ो के लिये छायादार स्थान, हाथियों के लिये चौक, तथा ऊंटों के लिये उनकी मन पसन्द बालु रेत बिछा दी गई है—

घोड़ला नै जी ठाण बधावु, हां ओ मेवाड़ा जी
हसती झुकाऊं माणक चौक मे।
बौरियां मै जी दाणो दिराऊ, हां ओ पावणा जी
कुरिया झुकाऊ बालु रेत मे॥

अपना सुन्दर घर बसा कर रहने की गृहिणी की तीव्र इच्छा और मनोकामना विश्वव्यापिनी है। कल्पना रचित सुन्दर महल, आंकांक्षाओं से सज्जित, स्वप्नों से चित्रित, प्रेम से पूरित, जिसमे वात्सल्य की धारा बहती हो, ऐसे मन चाहे घर की स्वामिनी बनने की कल्पना लोकगीतों मे कर मानसिक सन्तोष का अनुभव किया है।

चूने के स्थान पर केशर और कुकु के बने हुए महल बना कर दाम्पत्य जीवन बिताने की कल्पना कितनी अनूठी है ?

कुंकु तो केसर साहिबा
घरट घलायदो जी।
घर घलायदो जी धण नैं
सखरो माळियो ॥

उस प्रेम प्रासाद के रंगीन दृश्यों को कल्पना की दृष्टि से देखते हुए उन सुखों का आनन्द भी सहज ही ले लेती है। उस भवन के कांच-जड़ित आंगन मे उसके पति कैसे लगेगे जैसे किरणों मे सूर्य्य उदय हुआ हो।

इण तो आंगण सायबा,
आप फिरोला जी।
जांणै कांई किरणा मे
सूरज ऊगियो ॥

समीप ही स्नेह मुस्कान बिखेरती हुई वह स्वय कैसी लगेगी ? मानों बादल मे बिजली चमकी है—

इण तो आंगण साहिबा,
मै ही फिरांला जी।
जांणै कांई आभा मे,
चमकी बीजळी जी ॥

तुरन्त वास्तविकता की ओर दृष्टि जाती है और उसी आंगन मे उसकी सौत चलती फिरती कैसी लगेगी ? उंह ! मुंह का स्वाद ही बिगड़ गया। वह ऐसी लगेगी जैसे कोई मोचड़ी घूम रही हो, और मोचड़ी (जूती) भी कैसी ? बाये पांव की ।

इण तो आंगण साहिबा,
सौक फिरैला जी ।
जांणै कोई डावा पग
की या मोचड़ी जी ।।

सौत की कल्पना भी दु:खदायी रही है। कौन सौत का होना चाहेगी ? सौत तो स्वप्न मे दिखायी गई भी बुरी लगती है। कहा भी है "सौक बुरी जी काचा चून की" प्रत्येक पत्नी पति का पूर्ण प्रेम पाने की प्रबल इच्छा रखती है तथा प्राप्त करने का शत-शत प्रयत्न करती है। पत्नी के नारीजीवन की पूर्णता इसी में है।

इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से पूर्णतया अभिज्ञ महाकवि कालिदास जी ने अपने ग्रन्थरत्न कुमारसम्भव मे उमा को मंजुल शब्दों मे आशीर्वाद दिलाया—

अखण्डितं प्रेम लभस्वपत्यु

"तुम्हें पति का अखण्डित प्रेम प्राप्त हो।" आज तक लौकिक रूप से अथवा साहित्य में जितने प्रकार के कन्या को आशीर्वाद दिये गये हैं उन सब मे उमा को प्राप्त यह आशीर्वाद शिरोमणि है। इस आशीर्वाद का कोई मुकाबिला ही नहीं। प्रत्येक नारी की अपने पति का अखण्डित प्रेम पाने की उत्कट एवम् प्रबल कामना होती है। फिर सौत किसे अच्छी लगने लगी ?

सौत के प्रति लोकगीतों मे नारी ने अपने हृदय के सच्चे भावों को व्यक्त किया है। आदर्शवाद के नाम पर सत्य को परदे से ढांका नही। मन के भावों को खुल कर कहा है। सौत के प्रतिभावना देखिये—

टूंकियां पै लिख मोजी सायबो,
खड्या पै मांय मौसाळ।
बाहां पै लिख पियर सासरो,
कसणां मे सीव लौडी सौक ।।

कचुकी सिलाई जारही है। दर्जी को कहा जाना है—टूंकियों-वक्षस्थल पर रहने वाले भाग पर तो रसिक पति का चित्र उतार, बगल के पास ननिहाल के व्यक्तियों को, और दोनों बाहों पर सुसराल और

पीहर के परिवार को चित्रित कर। और सौत को तू पीठ पीछे बांधे जाने वाली कसों मे सी देना।

नित उठ देखूं पीयर सासरो,
नित उठ देखूं मोसाळ।
नित उठ निरखूं मोजी सायबो,
नजर्यां नी देखूं लौड़ी सौक॥

नित्य पीहर और सुसराल को देखा करूंगी। ननिहाल के परिवार पर भी दृष्टि पड़ती रहेगी। सीने पर होने से अपने चतुर पति को प्रति क्षण निरख सकूंगी। और सौत को पीछे की ओर सीना कि मेरी नजर ही उस पर न जाय!

लोकगीतों मे प्रेमभावना व्यक्त करने मे बड़ी सफलता मिली है। दाम्पत्यजीवन की वास्तविकता, कलह, गृहस्थी के द्वन्द आदि सभी अंगों पर बड़े मनोरंजक ढग से कहा गया है।

राजस्थान के लोकगीतों को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है। एक तो साधारण जन समाज मे गाये जाने वाले और दूसरे राज महलों के लोक गीत। राजस्थान मे सदियों से सामन्तवादी शासन रहा है। इस शासन के प्रभाव और संस्कृति की जन जीवन पर गहरी छाप है। राजमहलों मे गाये जाने वाले लोकगीतों मे और साधारण लोकगीतों के सभी अंगों मे पूर्ण साम्य होने के अलावा, इनमें वैभव, विलास और अपनी संस्कृति का स्पष्ट अवलोकन होता है। यों चाहें इनका राज-महलों के गीतों के नाम से वर्गीकरण किया जाय, इनमे कला तथा साहित्य का पुट लगा ही रहता है। ये गीत सम्बन्धित लाखों परिवारो मे गाये जाने के कारण शुद्ध लोकगीत ही हैं।

---

[१०]

राजस्थान में लोक-साहित्य का संकलन-कार्य

लेखक—श्रीमनोहर प्रभाकर एम ए

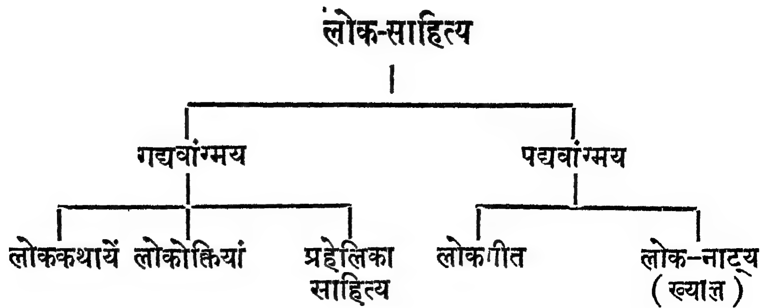
[राजस्थान मे लोक-साहित्य-सकलन की परपरा बहुत प्राचीन काल से मिलती है जिसके परिणाम स्वरूप प्राचीन हस्त लिखित ग्रन्थो मे भी लोक-साहित्य प्रचुर मात्रा में मिल जाता है। प्रस्तुत निबन्ध मे आधुनिक काल मे हुए सकलन-कार्य का उपयोगी परिचय दिया गया है । —सम्पादक]

किसी भी देश एवं जाति की सभ्यता के विकास की, उसके जीवन की गतिविधि की और उसके सांस्कृतिक धरातल के विभिन्न स्तरों की झांकी उसके लिखित साहित्य की अपेक्षा उसके मौखिक साहित्य मे ही अधिक उपलब्ध होती है, इस वैज्ञानिक सत्य को अब समस्त संसार मे स्वीकार कर लिया गया है। लगभग विश्व के सभी प्रमुख विद्वानों द्वारा यह सर्वमान्य रूप मे अनुभव किया जाने लगा है कि जन-जन के मात्र मौखिक प्रयत्न द्वारा जो लोकाभिव्यक्ति होती रहती है वह इस प्रकार उपेक्षा की पात्र नहीं जिस प्रकार उसकी उपेक्षा की जाती रही है। क्योंकि, लोक-साहित्य मे लोक की आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप मे प्रतिबिम्बित होती है। पाश्चात्य देशों मे शोध-संस्थाओं, अनुसंधान-केन्द्रों, राष्ट्रीय संग्रहालयों और विश्व विद्यालयों मे लोकजीवन सम्बन्धी अध्यापन कार्य की योजनाओं का आयोजन करते समय लोक जीवन और लोक साहित्य के इस अविभाज्य सम्बन्ध का सदैव ध्यान रखा जाता है। यूरोपीय देशों मे इस दिशा मे जो महत्त्वपूर्ण कार्य-सम्पादन हुआ है उसमें लोक-साहित्य और लोक-जीवन की परम्पराओं का सम्बन्ध स्पष्ट करने का यथाशक्य प्रयत्न किया गया है। इन परम्पराओं को समझने और उनका अध्ययन करने मे लोक-साहित्य ने अमूल्य योगदान किया है। इस अध्ययन से ही यह विदित हुआ है कि इतिहास के सर्वांगीण ज्ञान, उसकी टूटी शृंखलाओं की सुसम्बद्धता, मनुष्य को विशुद्ध मानवीय संस्कृति की अप्रतिहत धारा के स्वरूप और उसके वैज्ञानिक विकास का सम्यक् परिचय प्राप्त करने के लिए लोक की ऐसी

अभिव्यंजनाओं के विस्तृत संग्रह और वैज्ञानिक अध्ययन की अत्यधिक आवश्यकता है। जैसे किसी क्षेत्र की अद्यतन भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन उसके निवासियों की जाति, विकास और ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के मर्म को प्रस्तुत कर देता है, वैसे ही अन्य लोकाभिव्यक्तियों का अध्ययन भी पुरावृत्त शोध में सहायक होता है। इस दृष्टि से हिन्दुस्तान के अन्य क्षेत्रों की भांति राजस्थान का लोक-साहित्य भी विशिष्ट महत्त्व का अधिकारी है। इस प्रदेश की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएं अपनी निजी विशेषतायें लिये हुए रही है।

राजस्थान का लोक-साहित्य

राजस्थान के लोक-साहित्य के अन्तर्गत यहां का लोक विरचित गद्य एवं पद्यमय वांग्मय आता है जिसका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—



जनपदीय साहित्य का आन्दोलन और राजस्थान

हिन्दुस्तान मे जनपदीय साहित्य के अध्ययन और उस अध्ययन के प्रकाशन के कार्य को आरम्भ करने का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है, तो हमारे विदेशी लेखकों को जिन्होंने काश्मीरी, नेपाली, राजस्थानी, मैथिली, संथाली आदि विभिन्न भाषाओं व उनके लोक-साहित्य का अध्ययन किया तथा उन पर विशद समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे। परन्तु वे ग्रन्थ मुख्यतया अंग्रेजी मे थे। लेखकों मे सरजार्ज ग्रियर्सन, एच एम. इलियट, श्री सी. ई. ग्रोवर, डा० टैसीटोरी, मार्शमैन, डा० कैलो, हार्नले और डा० टर्नर आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कुछ भारतीय विद्वानों ने भी इन भाषाओं के सम्बन्ध मे कार्य किया। इनमें श्री तरुदत, श्री

दिनेशचन्द्र सेन और श्री महेश शास्त्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु ये सारे ग्रन्थ और यह ज्ञान-राशि अंग्रेजी मे ही प्रकाशित हुई।

हिन्दी के विद्वानों द्वारा जनपदीय साहित्य के अध्ययन का श्रीगणेश अपेक्षाकृत बाद मे हुआ। आरम्भ के इन दिनों में जनपदीय साहित्य का कार्य व्यक्तिगत रूप से ही सम्पादन हुआ। कहना न होगा कि इस व्यक्तिगत कार्य मे राजस्थान के विद्वानों ने भी अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। राजस्थान के अनेकानेक विद्वानों ने, जिनमे बूंदी के कविराजा मुरारीदान तथा पं० रामकरण आसोपा आरम्भकर्ता थे, राजस्थानी का कोष तथा व्याकरण बनाया। यही नही उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन भी किया। ठाकुर भूरसिह शेखावत ने राजस्थानी कविता को जिसमे लोकप्रिय राजस्थानी दोहे थे, विविध संग्रह के नाम से प्रकाशित किया। श्री रामनाराण दूगड़ और मुन्शी देवी प्रसाद ने राजस्थानी के कई संकलन-ग्रन्थ छपवाये। पुरोहित हरिनारायण ने नागरी प्रचारिणी सभा काशी के अन्तर्गत बालाबक्स राजपूत चारण ग्रन्थ-माला की स्थापना कराई, जिससे राजस्थानी के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशन मिला है।

लोकगीतों का संकलन

राजस्थान में लोक-साहित्य के संकलन के कार्य का श्रीगणेश लोक-गीतों से किया गया। श्री खेताराम माली ने मारवाड़ी गीतसंग्रह नाम से एक संग्रह प्रकाशित किया। श्री मदनलाल वैश्य ने मारवाड़ी गीत माला, श्री निहालचन्द वर्मा ने 'मारवाड़ी गीत श्री ताराचन्द ओझा ने मारवाड़ी स्त्री-गीत संग्रह और श्री जगदीश सिह गहलोत ने मारवाड़ के ग्राम गीत नाम से अन्य सग्रह प्रकाशित किये। किन्तु इनके संकलन कर्त्ताओं का मुख्य उद्देश्य मारवाड़ी गीतों का सग्रह करना नहीं था, बल्कि मारवाड़ से बाहर बसे हुए प्रवासी मारवाड़ियों तक उन गीतों को पहुँचाना मात्र था।

आगे चलकर श्री ठाकुर रामसिह, श्री सूर्यकरण पारीक तथा श्री नरोत्तम दास स्वामी के सम्मिलित प्रयत्नों से इस दिशा मे गौरवपूर्ण कार्य हुआ। सर्व प्रथम इन महानुभावों ने राजस्थान के सुप्रसिद्ध लोक-काव्य 'ढोला-मारू' को 'ढोला-मारू रा दूहा' के नाम से काशी नागरी प्रचारणी सभा द्वारा प्रकाशित करवाया।

संभवत लोक-काव्य सम्बन्धी यह पहला ग्रन्थ था जिसकी भूमिका इतनी विद्वत्ता पूर्ण ढंग से लिखी गई और जिसमे लोकगीत के जन्म तथा विकास पर वैज्ञानिक ढंग से चर्चा की गई। इस ग्रन्थ मे भाषा सम्बन्धी अनुसन्धानात्मक सामग्री प्रचुर मात्रा मे दी गई है। मूल दोहों के नीचे साथ-साथ फुट नोट मे अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। परिशिष्ट मे विभिन्न रूपान्तर दिये गये है। ये रूपान्तर अलग-अलग हस्तलिखित प्रतियों मे मिलने वाली सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन के लिए रखे गये है।

'ढोला-मारू' के बाद लोक-काव्य सम्बन्धी जो दूसरा प्रकाशन सामने आया, वह था श्री नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित 'राजस्थान रा दूहा।' इस पुस्तक मे लोक-साहित्य के लगभग १२२७ सुन्दर दोहों का संकलन है। दोहे नो भागों मे विभक्त किये गये हैं—१ विनय २ नीति ३ शौर्य और ४ ऐतिहासिक ५ भौगोलिक ५ हास्य और व्यंग्य ६ प्रेम ७ शृंगार ८ शान्त ९ प्रकीर्णक। मूल दोहों के नीचे फुट नोट मे हिन्दी अनुवाद दिया गया है।

उक्त पुस्तक के सम्पादक द्वारा ही ठाकुर रामसिह और श्री सूर्यकरण पारीक के सहयोग से राजस्थानी गीतों के दो अन्य संग्रह 'राजस्थान के लोकगीत' नाम से दो भागों मे प्रकाश मे आये। इन पुस्तकों का प्रकाशन राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता द्वारा किया गया। इन दोनों खंडों मे कुल मिलाकर २३० गीत दिये गये हैं। इसके बाद श्री गणपत स्वामी द्वारा भी राजस्थानी लोकगीतों का एक अन्य संकलन प्रकाश में आया।

उक्त ग्रन्थों के प्रकाशन के अनन्तर राजस्थान के लोक-गीतों सम्बन्धी कोई अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ प्रकाश मे नही आया। किन्तु राजस्थान के लोक-साहित्य के अनुसंधान मे प्रवृत्त विद्वान निरन्तर इन गीतों के संकलन-कार्य की ओर जागरूक हैं। फुटकर रूप मे सर्व श्री अगरचन्द नाहटा, मनोहर शर्मा, रावत सारस्वत, लक्ष्मी सहाय माथुर श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत और श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया द्वारा समय समय पर नये नये लोकगीत हिन्दी और राजस्थानी भाषा की पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सामने आते रहते हैं।

लोकोक्तियों का संकलन

राजस्थानी लोकोक्तियों के संकलन की दिशा मे निस्संदेह मह-

त्वपूर्ण कार्य हुआ है। डा० कन्हैयालाल सहल संभवत. पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने लोकोक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन और सकलन की दिशा में प्रयास किया है। उन्होंने राजस्थानी कहावतों पर एक शोधपूर्ण प्रबन्ध लिखा है जिस पर राजपूताना विश्व विद्यालय द्वारा उन्हें डाक्टरेट की उपाधि भी प्रदान की गई है। राजस्थान रिसर्च सोसाइटी ने प्रो० नरोत्तम दास स्वामी द्वारा सपादित राजस्थानी कहावतों के दो वृहद् सकलन प्रकाशित किये है। इससे पूर्व इस दिशा मे जो प्रयास हुए है उनमे श्री जगदीश सिह गहलोत द्वारा संकलित 'राजस्थान की कृपि कहावतें' और श्री लक्ष्मीलाल जोशी द्वारा संकलित 'मेवाड़ की कहावतें' के नाम उल्लेखनीय हैं।

लोक-कथाओं का संकलन-कार्य

यह कहना अनुचित न होगा कि राजस्थान मे लोकगीतों के सकलन की अपेक्षा लोक-कथाओं के सकलन का कार्य बहुत ही कम हुआ है और जो कुछ कार्य हुआ भी है, वह अभी तक प्रकाश मे नही आया है। श्री अगरचन्द नाहटा, श्री पुरुषोत्तम लाल मेनारिया, श्रीमती रानी लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत, श्री रावत सारस्वत और राजस्थान विश्वविद्यापीठ उदयपुर के पास लोक-कथाओं का अच्छा सकलन है किन्तु अनुकूल परिस्थितियों के अभाव मे अभी तक इन्हें प्रकाशन नही मिल पाया है। अभी आत्माराम एन्ड सन्स दिल्ली, ने श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया की 'राजस्थान की लोक कथायें' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की है। श्रीमती लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत और श्री मेनारिया ने अभी हाल ही मूल राजस्थानी भाषा मे दो छोटी पुस्तके कुछ लोक-कथाओं को लेकर प्रकाशित की हैं।

इन प्रयत्नों से पूर्व श्री कन्हैयालाल सहल ने 'राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान' नाम से एक पुस्तिका प्रकाशित की थी। बिसाऊ के श्री मनोहर शर्मा ने भी कुछ वर्षो पूर्व राजस्थान की कुछ लोक-कथाओं की कथा-वस्तु ले कर राजस्थानी मे कुछ पद्य-कथाये लिखी थी जिनका प्रकाशन 'गीत कथा' नाम से हुआ है।

वैसे हिन्दी और राजस्थानी भाषा विषयक पत्र-पत्रिकाओं मे यदा कदा अनेक राजस्थानी लोक-कथाये प्रकाश मे आती रहती हैं। किन्तु इस दिशा मे अभी बहुत कुछ कार्य करने की गुंजाइश है।

भारतीय लोक-कला ग्रन्थावली

[भारत की विभिन्न जनपदीय लोक-कलाओ जैसे नृत्य, सगीत, चित्र, अलकरण, लोक-गीत और लोक-जीवन आदि से सम्बन्धित अधिकारी विद्वानो और कलाकारो द्वारा प्रस्तुत, अन्वेषण एव अध्ययन-पूर्ण ग्रन्थ-प्रकाशन का अभिनव आयोजन ।]

सचालक— श्री देवीलाल सामर

सपादक— श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया

प्रकाशित ग्रन्थ

१. लोक कला निबन्धावली, भाग–१

राजस्थानी लोक-कलाओ जैसे भवाई नृत्य, घूमर और झूमर, सझ्या, लोकनाटक-ख्याल, भूमि-अलकरण आदि से सम्बन्धित अधिकारी विद्वानो द्वारा प्रस्तुत खोज और अध्ययनपूर्ण सामग्री । १८×२२/१६ आकार के १२८ पृष्ठ । दूसरे सस्करण की प्रतीक्षा कीजिये । मल्य ३) तीन रुपया ।

२. लोक-कला निबन्धावली, भाग–२

मध्यभारतीय आदिवासियो, लोकगीतो, लोकवार्ताओ, लोक-अलकरण कलाओ, लोकोक्तियो, पहेलियो आदि से सम्बन्धित अधिकारी विद्वानो द्वारा प्रस्तुत खोज और अध्ययन-पूर्ण सामग्री । १८×२२/१६ आकार के १३२ पृष्ठ । मूल्य ३) रुपया ।

३. लोक कला निबन्धावली, भाग– ३

राजस्थानी लोक-कलाओ, लोक-गीतो, लोकानुकृतियो आदि से सम्बन्धित अधिकारी विद्वानो द्वारा प्रस्तुत खोज और अध्ययन-पूर्ण सामग्री । १८×२२/१६ आकार के १२० पृष्ठ । मूल्य ३) रुपया ।

४ राजस्थान के लोकानुरंजन

राजस्थानी लोक-जीवन मे प्रचलित नृत्य और अभिनय आदि का खोज और अध्ययनपूर्ण सचित्र विवेचन । लेखक—श्री देवीलाल सामर और श्री गीडाराम वर्मा । मूल्य डेढ रुपया ।

आगामी प्रकाशन

१. राजस्थान का लोक-सगीत

राजस्थान के लोक-सगीत का अध्ययन और खोजपूर्ण विवेचन । प्रतिनिधि स्वरलिपियो सहित इस ग्रन्थ का प्रकाशन शीघ्र ही होगा । लेखक—सुप्रसिद्ध विद्वान कलाकार श्री देवीलाल सामर और श्री गीडाराम वर्मा ।

प्रकाशन-विभाग

भारतीय लोक-कला मण्डल

रेजिडेन्सी भवन, उदयपुर (फोन न० ६८)

जयपुर प्रिंटर्स भवन, जयपुर (फोन न० ८२२)